ॐ

शास्त्र-रहस्य

द्वितीय भाग।

पं० राजाराम प्रोफ़ैसर डी.ए.वी.
कालेज, लाहौर प्रणीत।

संवत् १९८० वि०, सन् १९२४ ई०।

बाम्बे मैशीन प्रेस मोहन लाल रोड लाहौर में मैनेजर
शरत्चन्द्र लखनपाल के अधिकार से छपा।

पहली बार १०००] [मूल्य ।।।)

विषय सूची।

गृहाश्रम।

गृहाश्रम के अधिकारी } गृहाश्रम बड़ी उत्तरदायिता का आश्रम है। इस में प्रवेश का शास्त्रीय अधिकार उसी को है, जो गृहाश्रमी के सारे कर्तव्यों को पालन करने की शक्ति रखता है। गृहाश्रम में प्रवेश के लिए सब से पहला नियम यह है, कि प्रविष्ट होने वाले स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य धारण करके पूरे यौवन में पहुंच चुके हों। जैसा कि कहा है-

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्। (अथर्व ११।५।६)

ब्रह्मचारी जब समिधा (के होम के प्रभाव) से तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी बन कर, मृगान पहने, लंबी दाढ़ी वाला, स्नातक बन करके (घर को वापिस) जाता है, तो वह शीघ्र ही पहले समुद्र से उत्तर समुद्र में चला जाता है (ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहाश्रम में प्रवेश करता है) और लोकों को वश में करके बार २ सुडौल बनाता रहता है।

'मृगान पहने' से अभिप्राय 'सादा जीवन' से है, और 'लंबी दाढ़ी' से अभिप्राय 'पूर्ण युवा' से है। जिस का सादा जीवन तेज और ब्रह्मचर्य से परिपूर्ण है, और पूर्ण युवा

है, वह गृहाश्रम का अधिकारी है । और इस युवा पति को वरने वाली कन्या भी ब्रह्मचारिणी युवति ही होनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (अथर्व ११ । ५ । १८)

ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति को पाती है ।

महाभारत में भी युवति के ही विवाह का वर्णन पाया जाता है । जैसा कि कुन्ती के स्वयम्वर में आया है—

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् । व्यावृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् (महाभारत आ० १२ । २)

रूप और यौवन से शोभा वाली, स्त्रियों के उत्तम गुणों से युक्त उस तेजस्विनी कन्या को अनेक राजाओं ने वरना चाहा ॥ फिर दमयन्ती के विषय में आया है—

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मनः कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ॥

(महाभारत वन० ५३ । ८)

राजा भीम ने अपनी कन्या दमयन्ती को युवावस्था में पहुंची देख कर उस का स्वयंवर रचाना अपना कर्तव्य समझा ।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है, कि विवाह यौवनावस्था में होता था, न कि बाल्यावस्था में । और होना भी ऐसा ही

चाहिये । बाल्यावस्था के विवाह में लाभ तो कोई है नहीं, हां हानियां बहुत सी हैं । इस लिए यह निश्चित जानो, कि आठ, नौ, दस वर्ष की कन्या का जो विवाह लिखा है, वह किसी कारणान्तर से प्रचलित हुआ है, अतएव बहुत से विद्वानों का अनुमान है, कि मुसलमानों के प्राबल्य के समय ऐसा किया गया है । डर यह था, कि प्रवल शासक पूर्ण युवतियों को बलात् छीन सकते हैं । पर छोटी बच्चियों पर कामी भी नहीं रीझता। और जो विवाहिता है वह मुसलमानी धर्म के अनुसार दूसरों पर हराम है,जब तक पहला पति उसे तलाक न देदे। और तलाक हिन्दुओं में होता नहीं, इस लिए बाल्य विवाह को उन्हां ने प्रचलित किया ॥ अस्तु कारण कुछ भी हो, ऐसा विवाह शास्त्र विरुद्ध अवश्य है ।

दूसरा नियम यह है, कि गृहाश्रम में प्रवेश करने वालों के जीवन ऐसे सांचे में ढले हुए हों, जो सब के लिए सुख शान्ति लाने वाले हों । उन के जीवन दूसरे गृहाश्रमियों को मानो यह विश्वास दिला रहे हैं, कि—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण । गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् (अथर्व ७ । ६२ । १)

पराक्रम को धारण कर, ऐश्वर्य और भलाई का प्रेमी बन, उत्तम मेधा से युक्त हो कर मैं गृहाश्रमियों में प्रविष्ट होता हूं, मैं तुम्हें सदा मित्रों वाली सौम्य दृष्टि से देखूगा । हे गृहस्थो ! मेरे साथ आनन्द मनाओ, मुझ से मत डरो (जो

उच्च जीवन को धारण किये बिना गृहाश्रम में प्रवेश करता है, उस से दूसरे गृहस्थों को डर लगना चाहिये, क्योंकि वह अपनी दुर्बलता से दूसरों को भी नीचे गिरायगा) ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेनतिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२॥

ये गृहस्थ, जो सुखों के जनक हैं, पराक्रम और शक्ति से पूर्ण हैं । जो उत्तम आहार और दूध से पूर्ण हैं । सब प्रकार के स्पृहणीय धन से पूर्ण हो कर स्थित हैं, वे हम आते हुओं को पहचानें † ।

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौम नसो बहुः ।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्त्वा यतः ॥३॥

परदेश में जाकर पुरुष जिन के लिए उत्कण्ठित होता है, जिन में बहुत बड़े उच्च भाव विद्यमान हैं, उन गृहस्थों को हम अपने निकट बुलाते हैं, वे हम आते हुओं को पहचानें ।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अतृष्यास्त गृहा मास्मद् बिभीतन ।४

मैंने ऐसे गृहस्थों को निकट बुलाया है (अपना साथी

---

* ऊर्जस्=पराक्रम वा आहार । पयस्=दूध और शक्ति ।

† अर्थात् ऐसे गृहस्थ हमारे आगमन का स्वागत करें, हमें अपना साथी बनाएं ।

बनाया है) जो ऐश्वर्य से भरपूर हैं, आपस में एक दूसरे के सार्थी हैं, स्वादुओं से (मीठे वचनों से और स्वादु भोगों से) आपस में आनन्द मनाते हैं । हे गृहस्थो ! तुम जो आए गए को अन्न जल देने और दुर्भिक्ष को दूर रखने का सामर्थ्य रखते हो, हम से मत डरो (अर्थात् मैं भी तुम्हारे ऐश्वर्य और सुखों की वृद्धि में तुम्हारा साथी बनूंगा, आए गए की अन्न जल से सेवा करूंगा, और दुर्भिक्ष को न आने देने में तुम्हारा साथी बनूंगा) ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः अथो
अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५॥

यहां गृहाश्रम में हम ने गौओं का स्वागत किया है, भेड और बकरियों का स्वागत किया है, अन्न के सार का स्वागत किया है, यह सब सदा हमारे घरों में बना रहे ।

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदः ।
अतृष्या अक्षुध्यास्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६

हे गृहस्था ! तुम जो मीठी और सच्ची वाणियों वाले, सौभाग्य वाले, अन्न जलों के मालिक, हंसी से आनन्द का जीवन बिताते हुए, आए गए को अन्न जल देने और दुर्भिक्ष को दूर रखने का सामर्थ्य रखते हो, हम से मत डरो ।

इहैव स्त मानुगात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेण सह भूयांसो भवता मया ॥७॥

तुम यहीं हो (मुझ से पहले गृहाश्रम में हो, अतएव मेरे पूज्य हो) किसी के पीछे मत चलो (मेरे पूज्यो सदा स्वतन्त्र बने रहो, और अग्रगामी रहो) सारे रंगों (धर्म, अर्थ, और काम के समुचित कार्यों) को पुष्ट करो। मैं भी कल्याण लाने वाले (बाहुबल और आत्मबल) के साथ तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट होने लगा हूं। (भगवान् करे कि) तुम मेरे द्वारा और भी वृद्धियुक्त होवो।

इन मन्त्रों में गृहाश्रम का अधिकार उस को दिया है, जो पराक्रमी, उदार हृदय, गम्भीर, बुद्धि ऐश्वर्य और भलाई का प्रेमी, अपने ऊपर पूरा भरोसा रखने वाला, मन से कभी दीन हीन न होने वाला, गृहाश्रमियों को आदर की दृष्टि से देखने वाला हो और गृहाश्रम का भार उठाने योग्य हो। और उन्हीं गृहाश्रमियों से सम्बन्ध बढ़ाए, जो इन गुणों से पूर्ण हों, सार्वजनिक कार्यों के प्रेमी हों। स्वयं भी उन का साथी बन कर सार्वजनिक कार्यों में योग दे, जिस से दुर्भिक्ष मरी आदि प्रजापीड़क राक्षसों से कोई भी दुःखित न हो। अपने घर को दूध देने वाले पशुओं से और उत्तम अन्न से भरपूर रक्खे। उन गृहस्थों में रहे, जो प्रसन्नवदन हंसते खेलते जीते हैं, जिन के चेहरों पर सदा कान्ति बरसती रहती है। आप भी सदा प्रसन्नवदन हंसता खेलता हुआ गृहाश्रम का उपभोग करे, ऐसे स्त्री पुरुष गृहाश्रम के सच्चे अधिकारी हैं। भगवान् मनु भी लिखते हैं।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रम माविशेत् ॥
(मनु ३ । २)

यथाक्रम सारे वेदों को वा दो वेदों को वा एक ही वेद को पढ़ कर अखण्डित ब्रह्मचर्य के साथ गृहाश्रम में प्रवेश करे (समावर्तन के पीछे भी विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य की वैसी ही रक्षा करे, जैसी ब्रह्मचर्य में करता रहा है) ।

यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षय मिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्योदुर्बलेन्द्रियैः ।
(मनु ३ । ७७-७९)

जैसे सब प्राणधारी वायु का सहारा लेकर जीते हैं, वैसे सारे आश्रमी गृहस्थ का सहारा लेकर जीते हैं ॥७७॥ जिस कारण (दूसरे) तीनों आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) (वेद के) ज्ञान और अन्न (के दान) से गृहस्थ के द्वारा ही धारण किये जाते हैं, इस कारण गृही सब से बड़े आश्रम वाला है ॥ ७८ ॥ अतएव यह आश्रम जो दुर्बल इन्द्रिय वालों से धारण नहीं किया जा सकता, चाहिये, कि लोक

परलोक की भलाई चाहता हुआ सावधान हो कर इसे धारण करे।

यथा नदी नदाः सर्वे सागरेयान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

जैसे सब नदी नद समुद्र में पहुंच कर आराम का स्थान पाते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में आराम का स्थान पाते हैं॥

इस लिए इस बड़े उत्तरदायिता के आश्रम में सब प्रकार से योग्य और सदा सावधान रहने वाला पुरुष ही अधिकारी है।

विवाह में वर्जित और प्रशस्त कुल

विवाह में वर्जित और प्रशस्तकुलों का निर्णय करने में पहले धर्मशास्त्र इतिहास और आचार की मोटी २ बातों को ध्यान में रख लेना चाहिये, तभी सारे विचार समझ में आएंगे। धर्मशास्त्रों में देशभेद और कालभेद से किसी २ अंश में मतभेद भी है, तथापि सारे धर्मशास्त्र इस बात में सहमत हैं, कि विवाह अपने वर्ण की कन्या से उत्तम है। अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी से, क्षत्रिय का क्षत्रिया से, वैश्य का वैश्या से और शूद्र का शूद्रा से ही विवाह प्रशस्त है। पर ब्राह्मण ब्राह्मणों में कोई अवान्तर भेद नहीं किया, और न ही क्षत्रिय वैश्य शूद्रों में कोई और अवान्तर भेद किया है। इतिहास से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। पर वर्तमान आचार में चारों वर्णों के अन्दर और कई अवान्तर भेद उत्पन्न हो गये हैं।

ब्राह्मणों में सारस्वत गौड़ आदि भेद देश भेद से हैं, उन में परस्पर विवाह नहीं होते, फिर सारस्वतों में भी बारही, बुंजाही, पञ्च-जातीय, अष्टवंश, मुह्याल इत्यादि कई भेद हैं। इन में से कई भेदों के तो परस्पर विवाह होते ही नहीं, कई दूसरों से कन्या ले लेते हैं, पर देते नहीं, जैसे बारही बुंजाहियों से, क्योंकि बारही बुंजाहियों से ऊंचे माने जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय आदि में भेद हैं। इस भेद का मूलकारण कुछ भी हो, पर है यह शास्त्र विरुद्ध और कोरा अभिमान, इस लिए त्याज्य है। शास्त्र-सम्मत यही है, कि

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

(मनु ३.४)

गुरु से अनुज्ञा पाकर स्नान कर के घर लौट आया द्विज अपने वर्ण की शुभ लक्षणों वाली भार्या विवाहे ॥ 'अपने वर्ण की' कहा है, वर्णों में अवान्तर भेद कोई नहीं माना। अब जातियों की प्रवृत्ति है भी इसी ओर, ये अवान्तर भेद टूट रहे हैं और विवाह की परिधि अधिक खुली हो रही है।

दूसरी बात है अंग देखना, उस में लोक चाल तो इस समय यह है, कि अपनी और नानकी जाति को छोड़ कर विवाह होते हैं, और कहीं २ पिता और माता की नानकी जातियों को भी छोड़ देने की चाल है, पर दक्षिण में मामे की कन्या को भी विवाह लेते हैं। धर्मशास्त्रों और इतिहासों में भी इसअंशमें मतभेद है। और उनकी व्याख्याओं में भी मत-भेद है। तद्यथा—

पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम्।
गृहस्थस्तूद्वहेत् कन्यां न्याय्येन विधिनानृप॥

(विष्णु पु० ३।११।२३)

(भृगुवंशी और्व मुनि राजा सगर से कहते हैं-) हे राजन्! मातृपक्ष से पांचवीं और पितृपक्ष से सातवीं कन्या को गृहस्थ धर्मयुक्त विधि से विवाहे॥ इस श्लोक का अभिप्राय तो इतना ही है, कि उस कन्या के साथ विवाह करे, जो माता की चार पीढ़ियों में और पिता की छः पीढ़ियों में न मिलती हो। गोत्र वा जाति का निषेध न मातृपक्ष में है, न पितृपक्ष में है।

विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य की व्याख्या में और पराशर ने पराशर माधव में यह श्रुति उद्धृत की है। "तस्मादु समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायते। उत तृतीये संगच्छावहै, चतुर्थे संगच्छावहै" अर्थात् एक पुरुष से भोक्ता भी और भोग्य भी उत्पन्न होता है (वे दोनों जानते हैं कि) हम दोनों तीसरे वा चौथे पुरुष (पीढ़ी) में फिर मिलेंगे॥ इस प्रमाण से तो तीसरी वा चौथी पीढ़ी में भी विवाह होजाना सिद्ध होता है। पर इन दोनों प्रमाणों में गोत्र वा प्रवर का निषेध नहीं।

गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणानुज्ञातः स्नात्वाऽसमानार्षेयामस्पृष्टमैथुनामवरवयसीं सदृशां भार्यामुद्वहेत्॥ पञ्चमीं मातृबन्धुभ्यः सप्तमीं पितृबन्धुभ्यः (वासिष्ठ० ८।१-२)

हर्ष क्रोध को वश में रखने वाला गृहाश्रमाभिलाषी पुरुष गुरु से अनुज्ञा पाकर स्नान करके असमान प्रवर वाली कुमारी, आयु में छोटी अपने वर्ण की कन्या विवाहे। १। जो माता के बन्धुओं की ओर से पांचवीं और पितृबन्धुओं की ओर से सातवीं हो (उस से परली पीढ़ी की न हो)॥ इसमें प्रवर भी छोड़ने लिखे हैं, और विष्णु पुराण की नाईं मातृपक्ष से चौथी और पितृपक्ष से पांचवीं पीढ़ी तक छोड़ना लिखा है—

असमानप्रवरैर्विवाहः।

ऊर्ध्वं सप्तमात् पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात्॥ (गौत० ध० १।४।२-३)

समान प्रवर वालों के साथ विवाह नहीं होना। २। पितृ बन्धुओं से और बीजी से सातवें के अनन्तर और मातृ बन्धुओं से पांचवें के अनन्तर (विवाह होना चाहिये) (बीजी से अभिप्राय नियुक्त पुरुष है)।

इस में भी प्रवर का निषेध है गोत्र का नहीं। तथा पिता की सात पीढ़ी और माता की ओर से पांच पीढ़ी वर्जित की हैं॥ पर मनु के अनुसार गोत्र का निषेध है, प्रवर का नहीं। जैसे—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

(मनु० ३।५)

जो माता की ओर से सपिण्डा न हो और पिता की

ओर से सगोत्रा भी न हो, वह द्विजों के लिए दम्पती साध्य कर्मों में श्रेष्ठ है ।

पर याज्ञवल्क्य के कुछ टीकाकारों के अनुसार गोत्र और प्रवर दोनों वर्जित हैं । जैसे—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यांस्त्रिय मुद्वहेत् ।
अनन्य पूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥
अरोगिणीं भ्रातृमती मसमानार्षगोत्रजाम् ।
पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा ॥

(याज्ञ० आचारा० ५२–५३)

अखण्डित ब्रह्मचर्य वाला उत्तम लक्षण वाली स्त्री को विवाहे, जो दूसरे की पत्नी नहीं, सुन्दरी है, असपिण्डा है, आयु में अपने से छोटी हैं । ५२ । रोगन नहीं, भाइयों वाली है, जो अपने गोत्र और प्रवर में नहीं जन्मी । माता की ओर से पांचवीं वा पिता की ओर सातवीं हो (अर्थात् उस से वरली पीढ़ियों में न मिलती हो) । ५३ । इस में भी माता के गोत्र का निषेध नहीं, हां पिता के गोत्र और प्रवर दोनों का निषेध है ।

पर कई आचार्य माता के गोत्र का भी निषेध मानते हैं, वे अपने पक्ष की पुष्टि में किसी स्मृति का यह वचन प्रमाण देते हैं—

मातुलस्य सुतामूद्वा मातृगोत्रां तथैव च ।
समानप्रवरां चैव गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

मामे की कन्या वा माता के गोत्र की कन्या को व्याह कर तथा अपने प्रवर की कन्या को व्याह कर चान्द्रायण व्रत (प्रायश्चित्त के तौर पर) करे।

किन्तु व्यास ने यह व्यवस्था करदी है कि–

सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि।
जन्मनाम्नोरविज्ञाने तूद्वहेदविशङ्कितः॥

कई आचार्य विवाह कर्म में माता की सगोत्रा भी ठीक नहीं मानते, पर जब जन्म नाम का पता न हो (अर्थात् कन्या का पिता अपने नाना की पीढ़ी में जिस पुरुष से जाकर मिलता है उस पीढ़ी और नाम का ज्ञान न रहा हो) तब निःशंक व्याह ले॥ यद्यपि प्रमाण और भी बहुत से हैं, पर अब सारे पक्ष हमारे सामने आगये हैं। निकट से निकट के लिए तो यह आज्ञा है, कि तीसरी वा चौथी पीढ़ी में विवाह अवैध नहीं। दूर से दूर के लिए यह कि माता की न सपिण्डा हो, न ही सगोत्रा हो, पिता की न सपिण्डा हो, न सगोत्रा हो, न सप्रवरा हो। यह तो है मूल में भेद, अब व्याख्याकारों में और भेद तो साधारण हैं, किन्तु एक भेद बहुत बड़ा है, वह यह कि माधवाचार्य मामे की कन्या को भी विवाह्य समझता है, दूसरे इसका निषेध करते हैं। बौधायन भी दक्षिण में इस आचार का प्रचलित होना स्वीकार करता है। इतिहास में भी एक उज्वल प्रमाण है, कि सुभद्रा अर्जुन के मामा की कन्या थी।

इन सारे प्रमाणों से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अति निकट के सम्बन्ध वर्जित हैं। इस लिए सबसे पहले तो वे कन्या आती हैं, जिन के साथ सभ्य मनुष्य सगी बहिनों

का सा व्यवहार रखते हैं, वे हैं चाचे, ताये, मासी, मामे आदि की कन्याएं। इस दृष्टि से पैठीनसि ने किसी ब्राह्मण का यह पाठ दिया है—

पितृमातृष्वसृदुहितरो मातुलसुताश्च धर्मतस्ता भगिन्यः। ता वर्जयेदिति विज्ञायते

फूफी, मासी और मामे की कन्याएं अपनी धर्म की बहिनें हैं, उन को न विवाहे॥ मनु ने इन के विवाहने में प्रायश्चित्त लिखा है—

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च।
मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्।

(मनु ११।१७१-१७२)

फूफी की कन्या, मासी की कन्या और अपने मामे की कन्या ये बहिनें हैं, इन को गमन कर चान्द्रायण व्रत करे (तब शुद्ध होता है) इन तीनों को बुद्धिमान् पुरुष पत्नी बनाने के अर्थ न विवाहे॥

इसी प्रकार फूफी मासी आदि जो मातृवत् मानी जाती हैं, और भाई की कन्या आदि जो कन्यावत् मानी जाती हैं, उन के साथ विवाह का निषेध है। इस निषेध की मर्यादा कहां तक रखनी चाहिये, इस के लिए नियम यही है, कि रुधिर का निकट का सम्बन्ध न हो। यह सम्बन्ध सर्व साधारण में तो कुछ पीढ़ियों के छोड़ने का ही था, जैसा कि विष्णुपुराण में

कहा है, कि माता से पांचवीं और पिता से सातवीं विवाह के योग्य है। पर अधिक धार्मिक दृष्टि वालों में स्वभावतः यह भावना दूर तक पहुंचनी ही थी, इस लिए मन्त्र द्रष्टा ऋषियों की सन्तान परम्परा में पितृपक्ष में छः पीढ़ी तक ही नहीं, किन्तु अगली पीढ़ियों में भी भाई बहिन की भावना अधिक जागृत रहने से अगली पीढ़ियों में भी संकोच ही रहा, यही गोत्र के निषेध का मूल है। यह पहले ब्राह्मणों में ही प्रचलित हुआ, इसी लिए शब्दकल्पद्रुम में गोत्र का अर्थ लिखा है—' वंशपरम्पराप्रसिद्ध मादिपुरुषं ब्राह्मणरूपम्=वंश परम्परा से प्रसिद्ध आदि पुरुष ब्राह्मण रूप। क्षत्रिय और वैश्य का आर्षेय गोत्र वही माना जाता है, जो पुरोहित का हो, जैसा कि मनु ३।५ पर मेधातिथि ने यह कल्पसूत्र उद्धृत किया है—"पौरोहित्यान्राजन्यवैश्ययोः" पुरोहित के गोत्र प्रवर से क्षत्रिय और वैश्य का होता है। इसके अनुसार ही मिताक्षरा में आया है—"यद्यपिराजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्र प्रवरौ वेदितव्यौ। तथा च यजमानस्यार्षेयान् प्रवृणीते इत्युक्त्वा "पौरोहित्यान् राजन्यविशां प्रवृणीते" इत्याहाश्वलायनः=यद्यपि क्षत्रिय और वैश्यों के अपने निज के गोत्र न होने से प्रवरों का अभाव है, तथापि पुरोहित के गोत्र और प्रवर ही उनके भी जानने चाहिये। जैसा कि 'यजमान के प्रवर उचारता है' यह कह कर 'क्षत्रिय और वैश्यों के उन के पुरोहितों के उचारे' यह आश्वलायन ने कहा है॥ इस से स्पष्ट है, कि जब विवाह में वर्जनीय गोत्र हैं ही

ब्राह्मणों के, तो गोत्र का निषेध पहले ब्राह्मणों में रहा। पीछे जैसे यज्ञों में क्षत्रिय वैश्यों के गोत्र प्रवर पुरोहित के लिए जाते थे, इसी प्रकार विवाह में भी लिये जाने से गोत्र का निषेध क्षत्रिय वैश्यों में भी प्रचार पा गया। तनिक ध्यान देकर देखो, यज्ञ में गोत्र प्रवर कहने का तात्पर्य अग्निदेव से अपने पूर्व पुरुषों का सम्बन्ध जितलाना है, कि जैसे तुमने अमुक २ ऋषियों के यज्ञ को अपनाया, वैसे हो मेरे (=उसी वंश की सन्तान के यज्ञ को अपनाओ। इस प्रकार यज्ञ में तो क्षत्रिय वैश्य को पुरोहितों के गोत्र प्रवर कहने उचित हैं, क्योंकि यजमान और पुरोहितों के सम्बन्ध कुल परम्परा से चले आते हैं, इस लिए जो अब यजमान यज्ञ कर रहा है, उस का पुरोहित यदि भारद्वाज गोत्री है, तो उस के बड़ों के पुरोहित इस ब्राह्मण के पूर्वज ठहरे, अर्थात् इस के गोत्र और प्रवर भी उनके पुरोहित ठहरे, इस लिए उस पुरोहित का ऐसा कहना समुचित है. कि जैसे मेरे उस २ पूर्वज ऋषि के यज्ञों को तुमने अपनाया है, इसी प्रकार मेरे इस यजमान के यज्ञ को अपनाओ। पर विवाह में तो रुधिरसम्बन्ध वर्जन करना है, उस से पुरोहित के गोत्र और प्रवर का क्या सम्बन्ध। इस लिए यही निश्चित है, कि गोत्र का निषेध पहले ब्राह्मणों में ही प्रचलित हुआ, पीछे क्षत्रिय वैश्यों में भी प्रचलित होगया। पर शूद्रों में फिर भी पीढ़ियों का ही निषेध रहा सगोत्रा का नहीं, जैसा कि मिताक्षरा में कहा है 'असपिण्डामित्येतत् सार्ववर्णिकम्। सर्वत्र सापिण्ड्यसद्भावात्। असमानार्षगोत्रजामित्येतत् त्रैवार्णिकविषयम्'=असपिण्डा को विवाहे' यह नियम तो चारों वर्णों के विषय में है, क्योंकि सपिण्डता तो चारों वर्णों में होती है, पर 'समान गोत्र प्रवर की न हो' यह

नियम तीनों वर्णों के विषय में है (शूद्र के विषय में नहीं) ब्राह्मणों में भी गोत्रप्रवर्तक ऋषि प्रधानतया आठ ही माने हैं। जैसा कि बौधायन का वचन है—

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गोतमः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तऋषयः॥
सप्तानामृषीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यंतद्गोत्रम्'

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गोतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप, ये जो सात ऋषि हैं, इन सात ऋषियों को और आठवें अगस्त्य की जो सन्तति है वह गोत्र है॥

किसी अन्य स्मृति में भी आया है—

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगोतमाः।
वसिष्ठ कश्यपागस्त्या मुनयो गोत्र कारिणः॥
एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्वते॥

जमदग्नि, भरद्वाज, विश्वामित्र, अत्रि, गोतम, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, ये मुनि गोत्रकारक हुए हैं, इन की जो संतानें हैं, वे उन २ गोत्रों को मानती हैं।

इन गोत्रों के अवान्तर भेद धर्मप्रदीप में २४ गिने हैं। फिर सहस्रों होगये। और कहा है—

गोत्राणां च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
ऊनपञ्चाशदेतेषां प्रवरा ऋषिदर्शनात्।

गोत्र सहस्रों, लाखों, करोड़ों हैं, पर उन के प्रवर केवल ४९ हैं, क्योंकि वे ही ऋषि (मन्त्र द्रष्टा) हुए हैं।

यहां सहस्रों, लाखों, करोड़ों, कहने से आठ की गिनती में अनास्था दिखलाई है, यह अभिप्राय नहीं, कि सचमुच करोड़ों हैं, किन्तु आठ ही अब नहीं रहे, बहुत बढ़ गये हैं। इस से स्पष्ट है, कि ज्यों २ संतान बढ़ती गई, त्यों २ एक ही गोत्र के अन्तर्गत कई २ गोत्र बनते गये। जैसेकि आज कल गोत्रों से पृथक् लक्षणपाल श्रीधरादि जातियें प्रसिद्ध हैं। आज कल विवाह सम्बन्ध में गोत्र को न मिला कर इन्हीं को मिलाया जाता है, इस पर आगे विचार करेंगे। अभी प्रकृत यह है, कि आदि गोत्र आठ हैं और पीछे अनेकों होगये हैं। पर प्रवर सारे उनचास ही हैं। अब विचारणीय यह है, कि ये प्रवर क्या हैं? प्रवर उसी गोत्र में जो मन्त्र द्रष्टा ऋषि हुए अथवा अनूचान (वेदवेदाङ्गपारंगत) ऋषि हुए, वे प्रवर कहलाते हैं। और वे हरएक गोत्र के अपने २ अलग २ नियत हैं। जैसे—जमदग्नि गोत्र के तीन प्रवर हैं—जमदग्नि, और्व और वसिष्ठ। भरद्वाज गोत्र के तीन हैं, भरद्वाज, अङ्गिरा और बृहस्पति। इसी प्रकार सब गोत्रों के प्रवर बौधायन और धर्मप्रदीप में अलग २ दिखलाये गये हैं। सो उसी वंश के प्रवर पुरुषों का नाम प्रवर है। इसी लिए विवाह में चाहे गोत्र का निषेध कहो, चाहे प्रवर का, बात एक ही है। अतएव पूर्वोक्त प्रमाणों में कहीं (मनु ३।५) निरा गोत्र का निषेध है, प्रवरों का नहीं और कहीं निरा प्रवरों का निषेध है। पर जब गोत्र बहुत बढ़ गये, तो यह सहज ही होना था, कि दो अलग२ वंशों के प्रवर्तक मूल पुरुषों का नाम एक ही मिलजाय, ऐसी दशा में

उन दोनों का गोत्र नाम एक हो जायगा, यद्यपि वे गोत्र प्रवर्तक मूल पुरुष दोनों के अलग २ हैं। पर ऐसी अवस्था में वास्तव दृष्टि में तो उन का गोत्र एक नहीं होगा। तौ भी नाम एक होने में यह झमेला पड़ेगा अवश्य, इस झमेले को मिटाने के लिए याज्ञवल्क्य ने गोत्र के साथ प्रवर भी रख दिया, क्योंकि गोत्र नाम एक होने में भी यदि वंश का भेद है, तो प्रवर नाम कभी नहीं मिलेंगे। इस से गोत्र के वस्तुतः एक होने वा न होने का निर्णय होजायगा। प्रवर गोत्र के इस झमेले को मिटाते हैं, इसी कारण से प्रवर का अर्थ दिया है—'गोत्रप्रवर्तकमुनिव्यावर्तको मुनिगणः' गोत्र प्रवर्तक ऋषि का व्यावर्तक (निखेरने वाला) ऋषिगण। पर याज्ञवल्क्य के 'असमानार्षगोत्रजाम्' इन शब्दों का अर्थ दो प्रकार का हो सकता है, जो अपने गोत्र प्रवर में न जन्मी हो अथवा अपने गोत्र में न जन्मी हो वा अपने प्रवर में न जन्मी हो। पहले अर्थ में जो निरा प्रवरों का निषेध करने वाले वचन हैं और निरा गोत्र का निषेध करने वाले हैं, उनके साथ इस वचन का पूरा मेल होजाता है, प्रवर को अलग कहने का तात्पर्य केवल गोत्र का झमेला मिटाना रह जाता है। यही आशय इस वचन का याज्ञवल्क्य के सब से पुराने टीकाकार विश्वरूप ने लिया है। 'असमानार्ष' के स्थान उसने 'असमानर्षि' पाठ पढ़ा है। इस पर उस की व्याख्या है—असमानर्षि गोत्रजाम्। असमानर्षेय गोत्रप्रभवाम्। असमान प्रवरा मित्यर्थः। तथा च गौतमः–'असमान प्रवरैर्विवाहः।' इति। यद्पि 'असगोत्रा मितिमानवं, तदप्येवमेव व्याख्येयम्।

ततश्च समान गोत्राणामप्य समान प्रवरणामनिषिद्धो विवाहः । यथा पञ्चार्षेयाणां त्र्यार्षेयाणां भरद्वाजानाम्'=असमान ऋषि गोत्र में जन्मी का अर्थ है असमान प्रवर गोत्र में जन्मी अर्थात् जिस के प्रवर एक न हों, जैसा कि गौतम ने कहा है, 'जिन के प्रवर समान न हों, उन के साथ विवाह सम्बन्ध हो' । और जो मनु ने असगोत्रा कहा है, उस की भी यही व्याख्या करनी, कि प्रवर एक न हो । इसी लिए गोत्र एक होने पर भी यदि प्रवर एक न हों, तो विवाह का निषेध नहीं माना जाता, जैसे पांच प्रवरों वाले भरद्वाज गोत्रियों का तीन प्रवरों वाले भरद्वाजों के साथ विवाह होता है ॥ वास्तव बात यही है, कि दोनों भरद्वाज, भरद्वाज नाम एक होने पर भी हैं अलग२, अतएव एक के वंशज प्रवर पुरुष और हैं, दूसरे के और । सो यह सिद्ध है कि प्रवरों के निषेध से जो अभिप्राय है, वही गोत्र के निषेध से है । अतएव स्वतन्त्रता से किसी ने निरे गोत्र का, और किसीने निरे प्रवरों का निषेध किया । गोत्र भिन्न होने पर गोत्रनाम की समानता देख याज्ञवल्क्य ने गोत्र के साथ प्रवर बढ़ा दिया । याज्ञवल्क्य का यही आशय विश्वरूप ने समझा । पीछे यह मर्म ध्यान में न रहने से कहीं गोत्र कहीं प्रवर का निषेध देख कर दोनों का ही निषेध कर दिया गया, कि न ही गोत्र एक हो और न ही प्रवर एक हो, तब विवाह होना चाहिये । मिताक्षरा और अपरार्क का यही आशय है, कि ऐसी कन्या विवाहनी चाहिये, जो न सपिण्डा हो, न सगोत्रा हो, न सप्रवरा हो । अर्थात् गोत्र प्रवर एक न भी हो, पर सपिण्डा हो, तो नहीं विवाहनी चाहिये । सपिण्डा न भी

हो, पर गोत्र एक हो, तौ भी विवाह नहीं होना चाहिये, सपिण्डा भी न हो, गोत्र भी न मिले, पर प्रवर मिल जायँ, तौ भी नहीं होना चाहिये। सपिण्डा भी न हो, प्रवर भी न मिले, पर गोत्र मिल जायँ, तौ भी नहीं होना चाहिये। ऐसा अर्थ करके बन्धन और अधिक बढ़ा दिया गया। पर इस पर आचरण नहीं हुआ। आचरण उसी मुख्य अर्थ पर रहा है, कि न सपिण्डा हो न सगोत्रा हो। यही स्मृतियों का प्राचीन और मुख्य पक्ष है। अब इन दोनों शब्दों का पूरा आशय समझना चाहिये।

सपिण्डा--पिण्ड से यहां अभिप्राय देह से है। सपिण्डा अर्थात् जिस का एक देह से सम्बन्ध हो, वह नहीं विवाहनी चाहिये। जैसे पुत्र का पिता के देह से सम्बन्ध है अथवा पिता का रुधिर उसमें संचार कर रहा है, और वही रुधिर अपनी बहिन के देह में संचार कर रहा है, इस लिए भाई का बहिन से विवाह नहीं होगा। दादे से पिता द्वारा सम्बन्ध हैं, इस लिए फूफी से और फूफी की कन्या से नहीं होगा। माता द्वारा नाने के साथ एक शरीर का सम्बन्ध है, इस लिए मासी, की कन्या और मामे की कन्या से नहीं होगा, इत्यादि। इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है, कि ऐसी सपिण्डता तो इतनी दूर तक पहुंचेगी, कि असपिण्डा का मिलना ही कठिन हो जायगा, और यह संदेह तो सर्वत्र ही बना रहेगा, कि कहीं न कहीं जाकर एक रुधिर न मिलता हो। किन्तु इतनी दूर तक सपिण्डता को ले जाना अभीष्ट नहीं, अभिप्राय अति निकट सम्बन्ध के वर्जन से है, इस लिए सपिण्डता की यह मर्यादा बांधी—

पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा

(याज्ञ० आचा० ५३)

माता से पांचवीं और पिता से सातवीं पीढ़ी की कन्या को विवाहे। अर्थात् माता की ओर से चार पीढ़ियों के अन्तर्गत न हो, नाना, परनाना, वृद्ध नाना और वृद्ध परनाना की वंशजा न हो, वृद्ध परनाना से ऊपर की पीढ़ियों से जा मिलती हो, तो फिर विवाहने में कोई दोष नहीं, इसी तरह पिता की ओर से छः पीढ़ियों में न मिलती हो। ऊपर की पीढ़ियों से मिलती हो, तो विवाहने में कोई दोष नही।

याज्ञवल्क्य का उक्त पाठ विश्वरूप के अनुसार है, मिताक्षरा के अनुसार पाठ 'पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा' है। अर्थात् माता की ओर से पांचवीं के और पिता की ओर से सातवीं के अनन्तर (सपिण्डता निवृत्त होती है)। पर विश्वरूप के पाठ में ही अर्थ ठीक लगता है। और इन प्रमाणों से इस की पुष्टि भी होती है—

पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वा (गौ०स्मृ० १४।१३)

सातवें वा पांचवें में पिण्ड की निवृत्ति होजाती है।

विष्णु पुराण का जो प्रमाण पूर्व दे आये हैं, उसमें भी मातृपक्ष से पांचवीं और पितृपक्ष से सातवीं विवाहने योग्य लिखी है। पैठीनसि ने पांचवीं और सातवीं त्याज्य मानी है, पर साथ ही दूसरा पक्ष और भी खुला दिखलाया है। जैसे—

पञ्चमीं मातृतः परिहरेत् सप्तमीं पितृतः।
त्रीन्मातृतः पञ्च पितृतो वा

माता से पांचवीं और पिता से सातवीं को त्यागे अथवा तीन माता से और पांच पिता से त्यागे॥ तथापि

ऊर्ध्वं सप्तमात् पितृबन्धुभ्यः (३) बीजिनश्च (४) मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात् (५)

(गौ० स्मृ० ४।३-५)

पिता के बन्धुओं से सातवें के अनन्तर तथा बीजी के भी (सातवें से अनन्तर) और माता के बन्धुओं से पांचवें के अनन्तर ॥

इन गोतम सूत्रों के अनुसार पांचवें और सातवें के अनन्तर वाला पक्ष भी आर्ष है। यह है सपिण्डा का निर्णय।

सगोत्रा-गोत्र से अभिप्राय पहले तो वैदिक गोत्र ही था, इसी लिए गोत्र के स्थान वा साथ प्रवर भी आया है। पर पीढ़ियां बीतने पर एक २ गोत्र के अवान्तर गोत्र भी बनते गये, और व्यवहार के लिए नई जातियां अपने २ बड़ों के नाम से प्रसिद्ध हुईं उनके वे गोत्र कहलाये। जैसा कि-- 'गोत्रावयवात्' (४।१।७९) सूत्र में गोत्रावयव पर विचार करते हुए भाष्यकार लिखते है--

भारद्वाजीयाः पठन्ति। सिद्धं तु कुलाख्याभ्यो लोके गोत्राभिमताभ्यः

भारद्वाजीय पढ़ते हैं। लोक में कुल नाम जो गोत्र कर के माने गए हैं, उन से सिद्ध है। सो ये कुलें अब लोक में गोत्र मानी जाती हैं। इन्हीं को छोड़ कर विवाह होता है। दूसरे गोत्र का कोई विचार नहीं किया जाता। दूसरे गोत्र का मिलाना अब है भी कठिन, क्योंकि एक ही नाम के कई ऋषि

हुए, जिन के वंशज उस एक नाम से प्रसिद्ध हुए। दूसरा अब हरएक मूल पुरुष की अनगिनत पीढ़ियां भी बीत गईं, तब उन के अवान्तर गोत्रों का ही त्याग उचित था। मेधातिथि ने भी मनु ३।५ पर लिखा है--अन्ये तु गोत्रं वंशमाहुः न तत्रावध्यपेक्षा यावदेतज्ज्ञायते वयमेकवंशा इति तावदविवाहः, कई आचार्य वंश को ही गोत्र मानते हैं, उस में अवधि की अपेक्षा नहीं, किन्तु जहां तक यह ज्ञात हो कि हम एक वंश के हैं, तब तक आपस में विवाह न हो (उस से आगे कोई प्रतिषेध नहीं) ॥

सारांश यह है, कि अति निकट सम्बन्ध नहीं होना चाहिये, यह नियम है। इस पर पुराना आचार तो यह है, कि माता की ओर से चार पीढ़ी और पिता की ओर से छः पीढ़ी छोड़ कर विवाह हो जाता था। पीछे माता की ओर से पांच पीढ़ी और पिता की ओर से सात पीढ़ी छोड़ने की मर्यादा रक्खी गई और यही पक्की होगई। फिर और आगे बढ़ कर पिता के गोत्र का भी निषेध हुआ, और वह भी ब्राह्मणों में, फिर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों में, पर गोत्र से अभिप्राय लौकिक गोत्र अर्थात् कुल वा वंश का प्रसिद्ध नाम लिया गया। सबके अन्त में माता की ओर से भी गोत्र का निषेध हुआ, पर उस की व्यवस्था यह करदी गई, कि नानकी जाति की कन्या वहीं तक निषिद्ध है, जहां तक जितवीं, पीढ़ी से और जिस पूर्व पुरुष से उन की एकता है, वह ज्ञात है। जब इस का पता न रहे, तो फिर नानकी जाति में कोई रोक नहीं। सो शास्त्रीय बन्धन यह तो मुख्य है, कि माता के बड़ों की चार और पिता के बड़ों की छः पीढ़ियां छोड़ कर विवाह हो। और अधिक से

अधिक बन्धन यह है, कि माता की पांच पीढ़ियां और पिता की सात पीढ़ियां छोड कर, और माता की जाति वहाँ तक, जहाँ तक पीढ़ी और पूर्व पुरुष के नाम का ज्ञान है, वहां तक छोड़ कर, और पिता की सारी जाति छोड़ कर विवाह हो। पर नई व्यवस्था में भी यह स्वतन्त्रता दी गई है, कि यदि इतने बड़े बन्धन में वर अच्छा न मिले, तो इस की अपेक्षा इस हद्द के अन्दर निःशंक विवाह कर दो, पर वर अच्छा ढूंढो, ऐसा न हो, कि इस बन्धन को मुख्य रख कर कन्या किसी अयोग्य वर को विवाह दो। जैसा कि—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि॥
काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

(मनु ९।८८-८९)

अच्छे गुणों वाला उत्तम आकृति वाला योग्य वर हो, तो न पहुंचती हुई भी कन्या यथाविधि उस को दे देवे। ८८। ऋतुमती भी कन्या भले ही मरणपर्यन्त घर में रहे, पर इसे गुण-हीन को कभी न देवे।८९।

सो शास्त्र का सिद्धान्त तो निश्चित हुआ, कि माता की पांच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी और गोत्र छोड़ कर विवाह वैध है। पर यदि इस हद्द के बाहर योग्य वर न मिले, तो माता की चार पीढ़ी और पिता की छः पीढ़ी ही केवल छोड़ देवे।

अब रहा यह विचार, कि मामे की कन्या से विवाह वैध है वा अवैध। दक्षिण में यह चाल बहुत पुरानी है और अब भी विद्यमान है। माधवाचार्य इस पक्ष का समर्थन इस प्रकार करते हैं "(प्रश्न) 'असपिण्डा च या मातुः (मनु ३।५) यहां 'माता' कहना निष्फल है, क्योंकि पिता के गोत्र और सपिण्ड का जब निषेध कर दिया, तो उसी से माता के गोत्र और सपिण्ड का निषेध भी आ ही गया, क्योंकि माताका अलग गोत्र और पिण्ड नहीं होता। जैसा कि कहा है--"

"एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके।
स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे॥

वह पिण्ड गोत्र और सूतक में भर्ता के साथ एक हो जाती है। विवाह में (सप्तपदी के) सातवें पद में (पिता के) गोत्र से गिरजाती है।"

"(उत्तर) 'माता' की असपिण्डा कहना निष्फल नहीं, क्योंकि गान्धर्व आदि विवाहों में कन्यादान न होने के कारण पिता का गोत्र और सपिण्डता बनी रहती है। जैसा कि मार्कण्डेय पुराण में कहा है--

ब्राह्मादिषु विवाहेषु यातूढा कन्यका भवेत्।
भर्तृगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया॥
गान्धर्वादिविवाहेषु पितृगोत्रेण धर्मवित्।

(म०पु० ३।२६।२१-२२)

ब्राह्म आदि विवाहों में जो कन्या ब्याही गई हो, उस का

पिण्ड और उदककर्म भर्ता के गोत्र से करना चाहिये, और गान्धर्व आदि विवाहों में धर्मज्ञ पुरुष को चाहिये कि उस के पिता के गोत्र से पिण्डदान करे"।

"इससे मामे की कन्या के विवाह में विवाद भी मिटा दिया गया। वह इस प्रकार कि मामे की कन्या के विवाह निषेध के जो वचन हैं, वे सब गान्धर्व आदि विवाह से ब्याही के विषय में हैं क्योंकि उनमें सपिण्ता बनी रहती है। इस पक्ष के पोषक श्रुति स्मृति सदाचार तीनों हैं। सो ये निषेध ब्राह्म आदि विवाहों से ब्याही के विषय में नहीं, क्योंकि उन में सपिण्डता ही नहीं रहती। इसी प्रकार ब्राह्म आदि विवाह से ब्याही फूफी की कन्या भी ब्याही जा सकती है, क्योंकि उसका भी पिण्ड गोत्र बदल जाता है। सारांश यह है, कि ब्राह्म आदि जिन विवाहों में कन्यादान होता है, उन में तो स्त्री का पिण्ड गोत्र बदल जाता है, पिता के गोत्र से ही उसका पिण्ड होता है, सो जब पिण्ड गोत्र एक न रहे, तो मामे की कन्या वा फूफी की कन्या धर्मभगिनी न बनी, इस लिए उससे विवाह हो सकता है, पर गान्धर्व आदि विवाह जो बिना कन्यादान के होते हैं, उन में पिता का गोत्र बना रहने से वहां मामे की कन्या माता के गोत्र की होने से धर्मभगिनी होती है, वह नहीं ब्याहनी चाहिये। स्मृतियों में जहां कहीं मामे की कन्या का निषेध है, वह ऐसी ही कन्या का निषेध है, सब का नहीं। फूफी की भी ऐसी ही कन्या का निषेध समझना चाहिये, सब का नहीं। श्रुति भी इस की अनुग्राहक है, जैसे-"

"आयाहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो

भागधेयं जुषस्व। तृप्तां जुहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव" ॥

(यह मन्त्र वालखिल्यों में है)

"अर्थ-हे इन्द्र! प्रशस्त मार्गों से हमारे इस यज्ञ में आओ, और अपना भाग स्वीकार करो। तृप्त करने वाली वपा तेरे लिए (ऋत्विजों ने) दी है, जैसे मामे की कन्या (भानजे का) भाग है, वा फूफी की कन्या पोते का भाग है॥ वाजसनेय में भी-" तस्माद्वा समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायते उत तृतीये संगच्छावहै, उत चतुर्थे सङ्गच्छावहे" एक ही पुरुष से भोक्ता और भोग्य उत्पन्न होते हैं, और वे आपस में संकल्प करते हैं कि तीसरे वा चौथे पुरुष में हम फिर विवाह सम्बन्ध करेंगे"। इस से यह विधि निकलती है, कि नाना से तीसरा पुरुष उस का दोहता है, वह नाना से तीसरी कन्या अर्थात् उसकी पोती को विवाह ले। सो इस प्रकार इस विवाह की पोषक श्रुतियें हैं। स्मृतियें भी नाने के साथ सपिण्डता के हटाने से इस विवाह की ज्ञापिका हैं, और शिष्टाचार इस में दाक्षिणात्यों का है ही। सो यह विवाह भी सप्रमाण धर्मयुक्त है। बौधायन भी कहता है।

पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतः।१। अनुपनीतेन भार्यया च सहभोजनं पर्युषितभोजनं मातुलदुहितृ-पितृष्वसृ दुहितृ प्रणयनमिति।३।

दक्षिण की ओर ये पांच बातें पाई जाती हैं । १ ।
(१) अनुपनीत के साथ (२) पत्नी के साथ खाते हैं (३)
बासी खाते हैं (४) मामे की कन्या को ब्याह लेते हैं (५)
फूफी की कन्या को ब्याह लेते हैं ।

तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेवस्यात् । ६ ।

उस २ में देश की प्रमाणता ही होसकती है (अर्थात् देश मर्यादा बन जाने से वहां इसे पाप न मानना चाहिये) ॥ (यह सब माधवाचार्य का कथन है) ।

पर सभी आचार्य इस के विरुद्ध हैं, अपरादित्य ने अपरार्क में इस पक्ष को लिख कर इस प्रकार खण्डन किया है। वह श्रुतिका पाठ किञ्चित् बदल कर पढ़ता है और अर्थ यह करता है। कि इन्द्र! तेरे साथियों ने (सोम से) तृप्त हो कर अब सोम को त्याग दिया है, जैसे भानजा मामे की कन्या को, और मामे का पुत्र फूफी की कन्या को त्यागता है । स्मृतियों का अभिप्राय भी सपिण्डा से एक देह की संतान से अभिप्राय है। इस लिए माता के भाई बन्धुओं की कन्याएं त्याज्य ही हैं । और आपस्तम्ब तो स्पष्ट यही लिखता है—

सगोत्रेभ्यो दुहितरं न प्रयच्छेन्मातुश्च योनिसम्बन्धेभ्यः पितुश्च सप्तमात् ।

सगोत्रियों को कन्या न दे, माता के रुधिर सम्बन्ध वालों को और पिता के सातवें पुरुष तक रुधिर सम्बन्ध वालों को ॥ यहां सपिण्डा न कह कर रुधिर सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध है, इस लिए सपिण्डा से भी स्मृतियों को यही अभिप्रेत है ।

बौधायन ने भी दाक्षिणात्यों को यह देशचाल दिखा कर अन्त में खण्डन ही किया है—

मिथ्यैतादितिगौतमः एतन्नाद्रियेत। शिष्टस्मृतिविरोधात्।

गौतम कहते हैं यह मिथ्या ही है। इस को प्रमाण न माने, क्योंकि इस में शिष्टाचार और स्मृति से विरोध आता है॥ सो मामे की वा फूफी की कन्या का विवाहना स्मृतियों के विरुद्ध है, यद्यपि दक्षिण में प्रचलित है। अब रहा सुभद्रा और अर्जुन का उदाहरण। उस के विषय में जानना चाहिये, कि कुन्ती जिस का दूसरा नाम पृथा है, वह शूर की कन्या थी और सुभद्रा शूर की पोती थी, पर पृथा को भोजवंशी राजा कुन्तिभोज ने गोद ले लिया था। इसी से उस का नाम कुन्ती हुआ। दत्तक पुत्र वा कन्या का गोत्र वंश बदल जाता है, इस लिए कुन्ती का गोत्र भोज होगया था, इस लिए वह भोजों की कन्या गिनी गई।

विवाह में प्रशस्त और वर्जित घर

विवाह सम्बन्ध जितना उज्वल कुलों के साथ हो, उतनी ही अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ती है और संतति में कुलीन पुरुषों के गुण बने रहते हैं। इस लिए विवाह सम्बन्ध में प्रशस्त और निन्दित घर इस प्रकार बतलाये हैं—

दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्।
स्फीतादपि न संचारिरोगदोष समन्वितात्॥
(याज्ञ० आचारा ५४)

दस पीढ़ियों (पांच माता की और पांच पिता की ओर) से विख्यात जो श्रोत्रियों का महाकुल है उस से कन्या लेवे । पर संचारि (बीज द्वारा संतान में चले जाने वाले) रोगों से और दूसरे दोषों से युक्त महाकुल से भी न लेवे ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधन धान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामया व्यपस्मारिश्वित्रि कुष्ठि कुलानि च ॥

(मनु ३।६-७)

स्त्री सम्बन्ध में ये दस कुलें--चाहे गौ, बकरी, भेड, धन और अनाज से भरपूर भी हों, तो भी छोड़ देवे । ६ । जो कुल वैदिक संस्कारों से हीन हो रहा है, जिस में पुरुष नहीं, जिस में वेद का अध्ययन नहीं, जिस में उत्पन्न होने वालों के शरीर पर बड़े २ लोम होते हैं, जिस में बवासीर का रोग हो, जिस में क्षयरोग (तपदिक वा सिल रोग) हो, जिस में मन्दाग्नि रोग हो, जिस में मिरगी का रोग हो, जिस में फुलबहरी (श्वेत कुष्ठ) का रोग हो, जिस में कुष्ठ का रोग हो । ७ ।

इस प्रकार के और भी दोष होसकते हैं । अतएव यमस्मृति में ठिगने आदि कुलों का भी निषेध है । ऐसी कुलों का वर्जना अपनी संतान को इस प्रकार के दोषों से बचाने के लिए है । जैसा कि कहा है—

कुलानुरूपाः प्रजाः सम्भवन्ति (हा २।१३)

कुलों के अनुरूप संतानें हुआ करती हैं ।

अतएव ये कुलों का नियम कन्या और वर दोनों में एक समान है । अतएव अन्यत्र कहा है—

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥

(मनु ४।२४४)

अपने कुल को समुन्नत करना चाहता हुआ पुरुष सदा उत्तम २ कुलों से सम्बन्ध जोड़े और अधम अधम कुलों को त्यागे॥

विशुद्धाः कर्मभिश्चैव श्रुतिस्मृति निदर्शितैः ।
अविप्लुतब्रह्मचर्या महाकुलसमान्विताः ॥
महाकुलैश्च सम्बन्धा महत्स्वेव व्यवस्थिताः ।
संतुष्टाः सज्जन हिताः साधवः समदर्शिनः ॥
लोभ रागद्वेषामर्षमान मोहादि वर्जिताः ।
अक्रोधनाः सुमनसः कार्याःसम्बान्धिनः सदा ॥

श्रुति स्मृति में बतलाए कर्मों के अनुष्ठान से विशुद्ध, (पहली अवस्था में) अखण्डित ब्रह्मचर्य वाले, स्वयं महाकुलीन और महाकुलों से ही सम्बन्ध रखने वाले, और विशाल हृदय पुरुषों के मेलो जोलो, सदा संतुष्ट, सज्जनों के हिती साधु, समदर्शी, लोभ, राग द्वेष, अमर्ष (कीना) मान, मोह आदि दोषों से वर्जित, अक्रोधी, (खिले हुए मन वाले) सदा सम्बन्धी बनाने चाहिये ॥

यह तात्पर्य नहीं, कि ऐसे उत्तमकुल और उत्तम सम्बन्धी न मिलें, तो विवाह ही न करें. वा इस से न्यून गुण वालों के साथ किया सम्बन्ध वैध नहीं, किन्तु यह विवाह का एक आदर्श बतलाया है। विवाह तो सभी के होंगे और वैध भी माने जायँगे, हां संचारिरोगों से बचाव अवश्य रखना चाहिये, नहीं तो जातियों में संचारिरोग अधिक फैल जाते हैं, जैसे आजकल क्षय रोग कुछ काल से अधिकाधिक फैलता चला जा रहा है। और कई दोष तो ऐसे हैं, कि हैं तो वस्तुतः दोष, पर उन से बचाव अब नहीं होसकता। जैसे 'जिस कुल में वेद का अध्ययन नहीं है' उस को त्यागना लिखा है। पर इस समय तो सभी कुल ऐसे ही हैं, कोई विरला ही वेदवादियों का कुल है। जैसे कन्याओंके कुल हैं, वैसे ही वरों के कुल हैं। शिकायत काहे की। पर है यह अत्यन्त शोक की बात। अतएव प्रयत्न करना चाहिये, कि यह दोष मिट जाय॥

कन्या और वर के गुण दोष

अब कन्या और वर के विषय में ये बातें विचारणीय लिखी हैं—

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥
नर्क्षवृक्ष नदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहि प्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥

(मनु ३।८-९)

कपिला (कैरे बालों वाली) कन्या न विवाहे, न अधिक (फुजूल बड़े २) अंगों वाली, न सदा की रोगन, न जिस के शरीर पर रोम नहीं, न जिस के बड़े२लोम हैं, न बड़ बोली, न भूरी आंखों वाली। ८। न नक्षत्र वृक्ष और नदी के नाम वाली, न नीच जाति के नाम वाली, न पक्षी सर्प और दासी के नाम वाली, न डरावने नाम वाली॥

इस में रोगन और बड़बोली तो स्पष्ट है कि क्लेश के लिए ही होंगी। कैरे बालों आदि का होना हमारे देश की स्त्रियों में अस्वाभाविक है, इस लिए वर्जित हैं। पर इन के साथ विवाह अवैध नहीं होता, दृष्ट दोष के आधार पर निषेध है, जो इस दोष का परिहार कर सकता है वा इसकी परवाह ही नहीं करता, वह निःशंक विवाह कर ले। और दूसरे श्लोक में जो नाम वर्जित कहे हैं। उस का तो अभिप्राय यही है, कि लोग ऐसे नाम न रखा करें, सुन्दर सुहावने नाम रखा करें, और यदि हों भी, तो विवाह के समय नाम बदल दिया करें, ऐसा होता भी है।

अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गी मुद्वहेत् स्त्रियम्॥

(मनु ३।१०)

ऐसी कन्या विवाहे, जो किसी अंग से व्यंग न हो, सौम्य नाम वाली हो, हाथी और हंस की चाल वाली हो, सूक्ष्म लोम बाल और दांतों वाली हो, और कोमलांगी हो॥ स्त्रियों में ये गुण सदा प्रशंसनीय माने गये हैं, अतएव वे यहां दर्शा दिये हैं, इस से बढ़ कर और कोई प्रयोजन यहां अभिप्रेत नहीं।

कि ये गुण न हों, तो विवाहे नहीं, वा दूसरे सुशीलता आदि के गुण ध्यान देने योग्य नहीं॥ अब वर के गुण कहते हैं—

विद्या-चारित्र-बन्धु-लक्षण-शीलसमन्विताय दद्यात् (गौ० ४।५)

विद्या, चरित्र, बन्धु, उत्तम लक्षण और उत्तम स्वभाव वाले को (कन्या) देवे।

कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च। एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेष मचिन्तनीयम् (यम)

कुल, शील आकृति, आयु, विद्या धन, और बन्धु बान्धव इन सात गुणों की परीक्षा करके कन्या देना चाहिये, और कोई बात चिन्तनीय नहीं है।

एक और भी निषेध विचारणीय है, वह यह, कि जिस कन्या का भाई न हो, उस को न विवाहे। यह इस लिए कि जिस के घर मे पुत्र न हो, उस को शास्त्र अधिकार देता है, कि वह अपनी कन्या को पुत्रिका थापले। चाहे वह वाग्दान वा विवाह के समय कह दे और चाहे न भी कहे, पर जब मन में उसने पुत्रिका थाप ली, तो फिर उस का पलोठा पुत्र कन्या का पोता गिना जायगा और उस के घर आकर उसी के वंश का वर्धक होगा। जैसा कि कहा है—

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेतवापिता।

नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्म शङ्कया ॥

(मनु ३।११)

जिस का भाई न हो, वा पिता अज्ञात हो उसे बुद्धिमान् पुत्रिकाधर्म (पुत्र के स्थानी मान लेने की मर्यादा) की शंका से न विवाहे।

अभिसन्धिमात्रात् पुत्रिकेत्येकेषाम् ।
तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम् ॥

(गौतम २८।१९-२०)

संकल्पमात्र से भी पुत्रिका होजाती है, यह कइयों का मत है। १९। इस डर से उस को न विवाहे जिस का भाई न हो॥ यह बात इस लिए दिखलाई है, कि यद्यपि दत्तक कृत्रिम आदि पुत्र भी धर्म की दृष्टि से दायाद (वारिस) होते हैं, पर अपना पुत्र दूसरे को दे देना, इसे आर्य लोग गिरावट अवश्य मानते थे, इस लिए आदर्श विवाह पुत्रिका के साथ भी निन्दित हुआ, पर व्यवहार में महत्त्व इस को न कभी पहले दिया गया, न अब है, न ही होना चाहिये।

अनुलोम विवाह शास्त्र सम्मत है

धर्मशास्त्रों के प्रमाणों से दर्शा चुके हैं, कि विवाह अपने वर्ण में ही श्रेष्ठ है, पर यह स्मरण रखना चाहिये, कि धर्मशास्त्रों में अपने से छोटे वर्णों की कन्याएं ब्याहने की अनुमति दी गई है और ये विवाह भी वैध माने जाते हैं। ये विवाह अनुलोम विवाह कहलाते हैं। जैसा कि कहा है—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्ताना मिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशःस्मृते ।
ते च स्वाचैव राज्ञश्च ताश्च स्वाचाग्रजन्मनः ॥

(मनु ३।१२--१३)

द्विजों को विवाह में पहले अपने वर्ण की कन्या प्रशस्त है। पर काम से प्रवृत्त हुओं के लिए क्रम से ये अच्छी हैं।१२। शूद्र की भार्या तो शूद्रा ही होती है, वैश्य का शूद्रा भी और अपने वर्ण की भी,क्षत्रिय की ये दोनों (शूद्रा और वैश्या) भी और अपने वर्ण की भी, ब्राह्मण की वे तीनों (शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया) भी और अपने वर्ण की भी । १३ ।

ब्राह्मणस्यानुलोम्येनास्त्रियोऽन्यास्तिस्र एव तु ।
शूद्राया प्रातिलोम्येन तथाऽन्ये पतयस्त्रयः ॥
द्वेभार्ये क्षत्रियस्यान्ये वैश्यास्यैका प्रकीर्तिता ।
वैश्याया द्वौ पती ज्ञेयावेकोऽन्यः क्षत्रियापतिः॥

(नारद १२।५-६)

ब्राह्मण की अनुलोमता से (अर्थात् निचली ओर) तीन और (क्षत्रियां वैश्या और शूद्रा) भार्या होसकती हैं, इसी प्रकार शूद्रा के प्रतिलोमता से (=ऊपर की ओर) तीन और पति होसकते हैं । ५। ऐसे ही क्षत्रिय की दो और

(=वैश्या और शूद्रा) और वैश्य की एक और (=शूद्रा) भार्या हो सकती है, इस लिए वैश्या के दो और क्षत्रिय और ब्राह्मण) और क्षत्रिया का एक और (=ब्राह्मण) पति हो सकता है ॥

शूद्रा के विवाह में मतभेद अवश्य है, कई मानते हैं, कई नहीं मानते, जैसा कि—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद् दारोपसंग्रहः ।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥

(याज्ञ० १।५६)

जो द्विजों का शूद्र से कन्या का ग्रहण बतलाया है। यह मेरा मत नहीं, क्योंकि यह स्वयं उस में उत्पन्न होता है (अर्थात् पुत्र अपना ही रूप होता है, और अपने आप को कोई भी दासीपुत्र कहलाना पसन्द नहीं करता)।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने इस श्लोक में मतभेद स्पष्ट कर दिया है। पारस्कर और वसिष्ठ कहते हैं—

तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण । ८ । द्वे राजन्यस्य । ९ । एका वैश्यस्य । १० । सर्वेषां वा शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम् । ११ । (पारस्करगृह्य १।४।८-११ वासिष्ठ १।२४–२५)

तीन (भार्या) ब्राह्मण की वर्णक्रम से हो सकती हैं ।८। दो क्षत्रिय की ।९। एक वैश्य की ।१०। कई आचार्य शूद्रा

को भी सब (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की भार्या बतलाते हैं, पर उस का विवाह मन्त्रों से नहीं हो।

पैठीनसि ब्रह्माण के उद्देश्य से कहता है—

अलाभे कन्यायाः स्नातकव्रतं चरेत् । अपि वा क्षत्रियायां पुत्रमुत्पादयीत । शूद्रायां वेत्येके ।

कन्या के न मिलने पर आयु भर स्नातक व्रत पर चलता रहे। अथवा क्षत्रिया में से पुत्र उत्पन्न करे, अथवा शूद्रा में से, यह कई मानते हैं।

इस प्रकार शूद्रा के विवाह में मतभेद तो स्पष्ट है, पर अवैध किसी ने नहीं माना। याज्ञवल्क्य ने भी अपनी सम्मति न देकर भी इसे वैध ठहराया है। जैसे—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥

(याज्ञ १।५७)

यथाक्रम ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की निचले २ वर्ण के क्रम से तीन, दो और एक भार्या हो सकती हैं, शूद्र की अपने ही वर्ण की हो सकती है।

और दाय भाग में भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य घरों में शूद्रा-पुत्र को दाय भागी भी ठहराया है।

चतुस्त्रिद्व्येक भागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः।

क्षत्रजास्त्रिद्व्येक भागा विड्जास्तु द्व्येकभागिनः

(याज्ञ० व्यवहारा० १२५)

ब्राह्मण के बेटे (माता के) वर्णक्रम से चार तीन दो और एक भाग के भागी हों (अर्थात् ब्राह्मणी पुत्र के चार भाग, क्षत्रियापुत्र के तीन वैश्यापुत्र के दो और शूद्रा पुत्र का एक हो) इसी प्रकार क्षत्रिय के पुत्र तीन दो और एक के भागी हों और वैश्य के पुत्र दो और एक के भागी हों ॥

इस से स्पष्ट है, कि द्विजों का शूद्राकन्या से विवाह उच्च-कक्षा का न भी माना गया हो, पर इस के वैध होने में कोई संदेह वा मतभेद नहीं। इतिहास भी इस की पुष्टि करते हैं। पूर्व ब्रह्मचर्य प्रकरण पृष्ठ १०२-१०३ में हम कक्षीवान् और कवष ये दो उज्वल नाम दे चुके हैं, जो वेद मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि हुए हैं और थे शूद्रा पुत्र। महाभारत में महात्मा विदुर दासी-पुत्र प्रसिद्ध हैं। रामायणप्रसिद्ध पितृभक्त श्रवण (प्रसिद्ध नाम सरवण) भी शूद्रापुत्र था। जैसा कि दशरथ को अत्यन्त शोक में डूबा हुआ जान कर स्वयं श्रवण ने कहा है।

ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम्। ४९।
न द्विजातिरहं राजन् माभूत् ते मनसो व्यथा।
शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप। ५०।

(रामायण, अयोध्या० ६३।४६-५०)

हे राजन् ब्रह्महत्या लगने का पाप अपने हृदय से दूर कीजिये। ४६। हे राजन् मैं ब्राह्मण नहीं हूं, तेरे मन को (ब्रह्म

हत्या की) पीड़ा न हो, हे राजन् मैं शूद्रा में से वैश्य से उत्पन्न हुआ हूं। ५० ।

यह श्रवण ब्रह्मवादी (वेदवेत्ता) था जैसा कि श्रवण का पिता कहता है—

सप्तधा तु फलेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।
ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ।२५।
अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि ।२६।

(अयोध्या० अ० ६५)

तप में स्थित, ऐसे ब्रह्मवादी मुनि पर यदि तूने जान बूझ कर शस्त्र चलाया होता, तो (ऐसे घोर पाप से) तेरा सिर टुकड़े २ हो कर गिर पड़ता। २५। पर जिस लिए तूने अज्ञान से ऐसा किया है, इसी लिए जीता है॥

श्रवण का सन्ध्या और अग्नि होत्र करना भी सिद्ध है। जैसा कि उस का पिता विलाप करता हुआ कहता है—

को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः ।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोक भयार्दितम्।३४।

स्नान सन्ध्या और अग्निहोत्र करके कौन अब मेरी पुत्र शोक से दुखिया की आ सेवा करेगा।

ऐसे उज्वल प्रमाणों से स्पष्ट है, कि शूद्रकन्याओं के साथ द्विजों के विवाह होते थे, और वे शूद्रकन्याएं अपने पतियों के पूज्य गुणों के प्रभाव से पूजनीया होजाती थीं, और सन्तान भी विदुर श्रवण जैसी धर्मात्मा भी होती थीं।

स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि

पुराने आर्यों में स्त्रियों के सम्बन्ध में तो यहां तक उदारता थी, कि सब प्रकार की कुलों से स्त्रियें ले लेते थे। जैसा कि धर्मशास्त्रों की आज्ञा है कि—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥
स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥

(मनु २। २३८, २४०)

श्रद्धा युक्त होकर शुभ विद्या शूद्र से भी ग्रहण कर लेवे, उत्तम मर्यादा अन्त्यजों से भी ग्रहण कर लेवे और स्त्री रूपी रत्न को दुष्कुल से भी लेलेवे। २३८। स्त्रियें और रत्न, विद्या और मर्यादा, पवित्रता और सुभाषित (नेक सलाह) और अनेक प्रकार के शिल्प (हुनर) सब से ही ग्रहण कर लेने चाहिये। २४०। सो धर्मशास्त्रों के अनुसार स्त्री दुष्कुल से भी और सभी जातियों की ग्राह्य मानी गई है, हां नियम यह है, कि पुरुष उच्च वर्ण का अवश्य होना चाहिये और इस में युक्ति यह दी है, कि—

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥

(मनु ९।२२)

स्त्री जैसे गुणों वाले पति के साथ ब्याही जाती है, वैसे गुणों वाली हो जाती है, जैसे नदी समुद्र से मिल कर (वैसी ही होजाती है)। इस में उदाहरण भी दिये हैं--

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्। २३।
एताश्चान्याश्चलोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥

(मनु ९।२३-२४)

नीच जाति में उत्पन्न हुई अक्षमाला वसिष्ठ के साथ ब्याही जाने से और शारङ्गी मन्दपाल के साथ ब्याही जाने से पूज्य होगईं। २३। ये तथा और भी नीच जाति की स्त्रियां अपने २ पतियों के शुभगुणों से इस लोक में उच्चता को प्राप्त हुई हैं।२४। सो ऐसे अनुभवों को दृष्टि में रख कर मनु ने निर्णय दे दिया है कि—

जातो नार्या मनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥

(मनु १०।६७)

एक आर्य पुरुष से अनार्या नारी के पेट से उत्पन्न हुआ पुत्र गुणों से आर्य होता है, पर आर्य नारी में अनार्य पुरुष से उत्पन्न हुआ पुरुष गुणों से अनार्य निकलता है, यह निश्चय है।

सो जब मनु अपना अनभव यह बतलाते हैं कि आर्य जीवन का प्रभाव स्त्रियों पर ऐसा अच्छा पड़ता है, कि वे स्त्रियें स्वयं भी उच्च गुणों वाली हो जाती हैं, और उन की संतान भी गुणों से आर्य निकलती है, तो इस दृष्टि से आर्य पुरुषों का अनार्या नारियों से विवाह उनके उद्धार का कारण था। एक तो इस में यह गुण था। दूसरा यह कि अविवाहित पुरुष ही किसी जाति में व्यभिचार का मूल हुआ करते हैं, उनको अनार्या नारियां को विवाहने की अनुज्ञा दे कर आर्य जाति ने अपने अन्दर व्यभिचार के प्रवेश को भी रोका था, अतएव यह नियम स्पष्ट कह दिया गया स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।

कन्याएं पतितों की भी विवाहने योग्य होती हैं—

धर्मशास्त्रों में यह आज्ञा दी है, कि जो पतित हो गये हैं, उन के साथ कोई मेल न रक्खे, जब तक कि जाति फिर उन को प्रायश्चित्त करा कर अपने अन्दर सम्मिलित न करले, पर—

कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिञ्चनाम्।

(याज्ञ० ५। २६१)

इन (पतितों) की कन्या को एक उपवास कराकर विवाह लेवे, और कुछ उन के घर से न लेवे।

प्रश्न उत्पन्न होता है, कि उनकी कौनसी कन्या विवाह लेवे, क्या जो पतितावस्था में उत्पन्न हुई है, वह कन्या, अथवा जिस का जन्म उनके पतित होने से पहले हुआ हो, वह कन्या वा दोनों। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मिताक्षराकार लिखते हैं 'पतिता-

वस्थाया मुत्पन्नां' जो पतितावस्था में जन्मी है, उस को ब्याह लेवे। इस से स्पष्ट है, कि अपतितावस्था में उत्पन्न हुई के लिए तो कोई संदेह ही नहीं। मिताक्षरा में इस पक्ष के पोषक ये और भी प्रमाण दिये हैं—

पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाऽऽच्छादितां नाहमेतेषां न ममैत इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत् ।

पतित की कन्या, घर के वस्त्र उतार कर, एक दिन रात उपवास करके प्रातःकाल शुद्ध नये वस्त्र पहन कर तीन बार ऊँचे स्वर से कह दे, कि न मैं इन की हूं, न ये मेरे हैं। तब उसे तीर्थ पर अथवा अपने घर में लाकर विवाह लेवे—(वृद्ध हारीत)

पतितेनोत्पन्नः पतितो भवत्यन्यत्र स्त्रियाः ।
सा हि परगामिनी तामरिक्था मुद्वहेत् ॥ (वसिष्ठ)

पतित से उत्पन्न हुआ पतित होता है सिवाय कन्या के, वह तो परगामिनी (दूसरे के घर की अमानत) होती है, उसे (माता पिता के घर की) कोई वस्तु न लेकर ब्याह लेवे॥

इस प्रकार स्त्री रत्न रत्नवत् जहां से मिले, ग्राह्य है, यह शास्त्र का रहस्य है। हां पुरुष में यह योग्यता अवश्य होनी चाहिये, कि उस पर अपने धर्म का पूरा प्रभाव डाले, जिस से उस का

जीवन उच्च होजावे, और सन्तान उत्तम गुणयुक्त हो।

स्वयंवर और कन्यादान का अधिकार।

आर्य जाति में योग्य कन्याओं को स्वयंवर का अधिकार था। जैसा कि भगवान् वेद की आज्ञा है—

भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् (ऋ० १०.२७।१२)

रूपवती गुणवती जो वधू होती है, वह स्वयं बहुतों के मध्य में से अपने मित्र को चुन लेती है।

पर बहुधा माता पिता को ही अधिकार होता था, क्योंकि अधिक अनुभवी होने के कारण वे सारी बातों पर दृष्टि डाल सकते हैं, हां वे भी वर वधू की कामना के विरुद्ध नहीं जाते थे, किन्तु उन की सम्मति वा कामना का ध्यान रख कर ही चुनते थे, जैसा कि सूर्या के विवाह में बतलाया है—

सोमो वधूयुर भवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादद्दात्॥
(ऋ० १०।८५।९)

सोम वधू की कामना वाला हुआ, दोनों अश्वी उस के लिए चुनने वाले बने, जब कि पति की कामना करती हुई सूर्या को सविता ने मन से दिया (=देने का मन में संकल्प किया)॥

स्वयंवर राजाओं में बड़ी धूम धाम से होते रहे हैं, जैसे

सीता दमयन्ती और द्रौपदी के स्वयंवर हुए । ये स्वयंवर दो प्रकार से होते थे । एक तो गुणों की परीक्षा में सफल होने पर, जैसे सीता और द्रौपदी के हुए । इस का प्रबन्ध प्रायः माता पिता के अधीन होता था । दूसरे कोई पण (शर्त) बीच में न ला कर, किन्तु कन्या की केवल रुचि पर होते थे, जैसे सावित्री और दमयन्ती के हुए ।

पुराने युगों में तो आर्यजाति में स्वयंवर के लिए कोई संकोच नहीं था, इस लिए कन्या का पिता योग्य वर को ढूंढ करता था, वा कन्या को स्वयं अधिकार था । पर स्वयंवर का काम एक बड़ी गम्भीरता के साथ होता था । चञ्चलता का नाम न आने पाता था । जिस बात की आर्य नारी को चाह होती थी, वे उज्वल गुण होते थे । और जब मन का संकल्प हो जाता था, तो फिर अटल हो जाता था । सावित्री का स्वयंवर इस का उदाहरण देखिये । पर धीरे २ इस मर्यादा में संकोच होता गया । तब स्वयंवर का अधिकार घटा और कन्यादान का अधिकार बढ़ा । तब स्मृतियों में ये विचार उत्पन्न हुए, कि माता पिता से अतिरिक्त और किस २ को कन्यादान का अधिकार है । तथापि स्मृतियों में भी स्वयंवर के अवसर भी विद्यमान हैं । जैसे

पिता दद्यात् स्वयंकन्यां भ्रातावानुमतेपितुः ।
मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा ।
माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते ।

तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः सनाभयः ॥
यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाश्रयेत्
अनुज्ञया तस्य वरं प्रतीत्य वरयेत् स्वयम् ॥
सवर्णमनुरूपं च कुलशीलवयः श्रुतैः ।
सह धर्मं चरेत् तेन प्रजां चोत्पादयेत् ततः ॥

(नारद १२। १९-२३)

स्वयं पिता वा पिता की अनुमति में भ्राता कन्यादान करे। तथा नाना मामा, वा अपने कुल का कोई बान्धव करे, सब के अभाव में माता, यदि प्रकृति (होश हवास और धर्म मर्यादा) में स्थित है, वह करे। यदि वह प्रकृति में स्थित न हो, तो सनाभि (शरीक) कन्यादान करें। और यदि कोई भी न हो, तो कन्या राजा का आश्रय ले। उसकी अनुमति लेकर स्वयं चुन कर वर वरे। जो सवर्ण हो, कुलशील आयु और शास्त्र से योग्य हो। उस के साथ धर्म कार्य करे और संतान उत्पन्न करे।

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥
अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।

गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात् स्वयंवरम् ॥

(याज्ञ० १ । ६३-६४)

पिता, पितामह, भाई, सकुल्य, तथा माता, इन में से पूर्व २ के अभाव में परला २ कन्यादाता है, यदि वह प्रकृतिस्थ है। (समय पर) न ब्याहता हुआ वह ऋतु २ में गर्भहत्या को प्राप्त होता है । इन दाताओं के अभाव में कन्या अपने सवर्ण योग्य वर को स्वयं वरले।

दोनों स्मृतियों में किञ्चिद् भेद है, अभिप्राय दोनों का कन्या का हित चाहने वाले निकट के सम्बन्धियों से है। और याज्ञवल्क्य ने जो प्रकृतिस्थ विशेषण सब के साथ लगाया है, इस से भी यह अभिप्रेत है, कि जो अधिकार रखता है, वह स्वार्थवश भी कन्या का अहित न कर सके, अतएव जो धन लेकर अयोग्य वरों के साथ विवाह देना चाहें, वे अधिकार रखते हुए भी अधिकारी नहीं रहते।

सो एक तो पिता आदि के अभाव में कन्या को अपने स्वयं वर के चुनने की आज्ञा है । दूसरा यदि कन्या के युवति हो जाने पर भी पिता आदि उस के विवाह की उपेक्षा करें, तब भी उसे स्वयं वर के चुनने की आज्ञा है। जैसे-

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्मात् विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।

नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥
(मनु० ६। ९०-६१)

(पिता से न दी हुई) कन्या ऋतुमती हो कर भी तीन वर्ष प्रतीक्षा करे। इतने काल के अनन्तर अपने सदृश पति को स्वयं वर ले॥ ९०॥ (पिता आदि से) न दी हुई यदि स्वयं पति को पा ले, तो उसे कोई दोष नहीं होता, न ही उस को (कोई दोष है) जिस को वह वरती है॥ ६१॥

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम्।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम्॥
अविद्यमाने सदृशं गुणहीनमपि श्रयेत्।
(बौधायन ४। १। १४)

ऋतुमती हो कर तीन वर्ष पिता के शासन की आकांक्षा रक्खे। पीछे चौथे वर्ष अपने सदृश पति को वर ले। सदृश न हो, तो गुणहीन को भी वर सकती है॥ विष्णु ने तो यह भी कहा है—ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्=तीन ऋतु बिता कर कन्या स्वयं वर कर ले॥

श्रुति और स्मृति में भेद यह है, कि श्रुति में विवाह का निर्भर माता पिता के अधीन भी वर कन्या की कामना पर है और स्वयंवर भी संकुचित नहीं है। स्मृति में वर कन्या की कामना बड़ों के अधीन कर दी गई है। पर बड़ों का यह कर्तव्य स्थिर किया गया है, कि वे उन के हित का पूरा ध्यान रक्खें, और यदि कोई उन के हित की उपेक्षा करे तो स्वयंवर कर लें।

विवाह के भेद और विवाह में दात।

दात—बहुत सी प्राचीन जातियों में विवाह वस्तुतः स्त्री का खरीद लेना था। कन्या का मूल्य उस के माता पिता को दिया जाता था। बाइबल में इस के स्पष्ट उदाहरण हैं। इस समय भी कई जातियों में ऐसा व्यवहार पाया जाता है। पर आर्यजाति में कन्याओं का बेचना तो दूर रहा, कन्याओं को माता पिता और भाइयों की ओर से अवश्य कुछ दिया जाता था। सूर्य की पुत्री सूर्या (प्रभा) का अलंकार से जो चन्द्र के साथ विवाह का वर्णन किया है, उस में आया है—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।

(ऋग्० १० । ८५ । १३। अथर्व १४ । १ । १३)

दहेज सूर्या के आगे २ चला, जो (उस के पिता) सविता ने उसे दिया।

सो वरपक्ष से कुछ ले कर कन्या देना आर्यजाति में सदा घृणा की दृष्टि से देखा जाता रहा है, अतएव आर्य जाति में कन्यादान माना गया है, और कुछ लेकर कन्या देने का नाम घृणादृष्टि से अपत्यविक्रय (संतान का बेचना) रक्खा गया है। इस पवित्रभाव ने यहां तक बल पकड़ा, कि कन्या के घर का केवल अन्न जल ही माता पिता पाप न समझने लगे, बल्कि उस ग्राम वा नगर के अन्न जल को भी त्यागने लगे। यद्यपि यह भाव प्राचीन नहीं, प्राचीन आर्यभाव यही है, कि वर से कुछ लिया नहीं जाता था, अपितु दिया ही जाता था, तथापि उस नगर का भी अन्न जल त्याग देने की बात आर्य

जाति के उस अन्तरीय भाव को बोधन करती है, कि वह कन्या के घर की कोई भी वस्तु अंगीकार करने में कितना अनिष्ट मानते थे । अतएव जो कोई भी कन्या का धन लेवे, वह पतित ही है । अपने पास से कुछ न बन पड़े, तो केवल कन्या का हाथ पकड़ा दे, पर लेने का संकल्प भी मन में न लावे ॥

(प्रश्न) धर्मशास्त्रों में जो आठ प्रकार के विवाह लिखे हैं, उन में तो आर्ष और आसुर विवाहों में वर से भी लेना लिखा है–इस का क्या उत्तर है ?

(उत्तर) आसुर तो आर्यजाति का विवाह ही नहीं, वह तो असुर जाति का विवाह है, उन में ऐसी चाल थी । जब आर्यजाति का शासन उन पर हुआ, तो उन की विवाह-मर्यादा कानून की दृष्टि में उन के लिए ठीक मानी गई, और यह शासकों का धर्म ही है, कि अपने अधीन जातियों की मर्यादाओं में हस्तक्षेप न करें, किन्तु आर्य स्वयं इस को घृणा की दृष्टि से ही देखते रहे हैं । और आर्ष विवाह में यह कहना कि माता पिता कन्या का कुछ लेते हैं, ऐसा कहना तो उसी को शोभा देता है, जिस ने आगा पीछा छोड़ कर कोई एक बात बीच में से उड़ा ली हो, पूर्वापर कुछ न देखा हो ।

सुनो, पहले विवाह के इन आठों ही भेदों का मर्म समझो, फिर सारी बात तुम्हारी समझ में आजायगी ।

विवाह के आठ भेद

मनु० अध्याय ३ में है—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।

अथेमान् समासेन स्त्रीविवाहान् निबोधत २०

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।२१।

चार वर्णों में प्रचलित इन आठ स्त्री विवाहों को संक्षेप से जानो, जिन में से कई तो लोक परलोक दोनों के लिए हितकारी हैं, कई अहितकारी हैं ॥ २० ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ॥ २१ ॥ यहां 'हिताहित' कहने से यह तो स्पष्ट कह दिया, कि मत समझो कि ये सभी विवाह अच्छे ही हैं, अच्छे भी हैं बुरे भी हैं, पर जातियों में प्रमाण माने जाते हैं, इस लिए कहते हैं । अनार्य सारी जातियें शूद्र मानी जाती हैं, इस लिए चारों वर्णों में सभी जातियें आ गईं ।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुति शीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ।२७

वेदवेत्ता और सदाचारी वर को घर बुला कर, और कन्या को उत्तम वस्त्र भूषण पहना कर, जो कन्या देना है, यह ब्राह्मधर्म (वेद मर्यादा वा ब्राह्मणों की मर्यादा) कहलाता है (यही आज कल प्रायः प्रचलित है) ।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥२८॥

प्रवृत्त हुए (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ में कर्म करते हुए ऋत्विज् को (वस्त्र भूषणादि से) अलंकृत करके जो कन्यादान है, उसे दैव धर्म कहते हैं (यह केवल ब्राह्मणों में प्रचलित था। जो ब्रह्मचर्य पूर्ण कर चुका और यज्ञकर्म में समर्थ होचुका है, उस योग्य वर को यज्ञ की पवित्र वेदि में ही कन्या दे देते थे। यज्ञ में देवता विद्यमान होते हैं, इस लिए, अथवा यह केवल ब्राह्मणों की मर्यादा है, इस लिए, इसे दैवधर्म कहते हैं। 'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः' ये निःसंदेह प्रत्यक्ष देवता हैं, जो ब्राह्मण हैं "

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ।२९।

एक वा दो गोमिथुन (गौबैल का जोड़ा) वर से धर्मार्थ ले कर जो यथाविधि कन्या का दान है, वह आर्षधर्म कहलाता है॥ यहां जो 'धर्मतः' धर्मार्थ, कहा है, इससे स्पष्ट कर दिया है, कि अग्निहोत्र आदि धर्मकार्यों को पूरा करने के अर्थ कन्या को ही देने के लिए लेना है, न कि अपने पास रखने के लिए। जैसा कि आगे चल कर इसे पूरा २ स्पष्ट कर दिया है---

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ।५३।
यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।

अर्हणं तत्कुमारीणा मानृशंस्यं च केवलम् ।५४।

कई लोग आर्ष विवाह में गोमिथुन को शुल्क बतलाते हैं, यह बिल्कुल झूठ है, इस तरह (शुल्क लेना) चाहे थोड़ा हो, या बहुत हो, वह कन्या का बेचना ही है । ५३ । पर जिन का शुल्क बन्धु नहीं लेते, वह बेचना नहीं है, वह कुमारियों की पूजा है और केवल दयाभाव है॥

तात्पर्य यह है, कि आर्षविवाह में गौओं का जोड़ा जो वर से लिया जाता है, वह पिता अपने लिए नहीं लेता, किन्तु जो ऐसा निर्धन पिता अपने पास से कुछ नहीं दे सकता, वह कन्या को ही देने के लिए लेता है, जिस से कि उन के यज्ञादि धर्मकार्य न रुकें (इसी लिए वहां धमार्थ कहा है) क्योंकि यह स्त्रीधन हो जाता है, उसे फिर कोई ले नहीं सकता, पति भी नहीं । और उस गोमिथुन की जो आगे सन्तति होती हैं, वह भी स्त्रीधन ही होता है । उन को पति तंगी में भी बेच नहीं सकता अतएव तंगी में भी उन के धर्मकार्य (यज्ञादि) नहीं रुकते, यही कन्या की पूजा है, और उस के घर में दूध दही सदा बना रहे, यह अनुकम्पा भी है। जो इस को शुल्क समझते हैं, वे भ्रान्त हैं, यह शुल्क नहीं। शुल्क तो चाहे कितना ही थोड़ा क्यों न हो, वह है तो बेचना ही, अतएव अधर्म है ।

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिःस्मृतः॥

"तुम दोनों मिल कर गृहाश्रम धर्म का पालन करो" इस प्रकार वाणी से कह कर (वस्त्र भूषणादि से) पूज कर जो कन्या का देना है, यह प्राजापत्य (प्रजापतियों की) मर्यादा कही गई है । ३० ।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।३१।

(कन्या के) ज्ञातियों (पिता भ्राता आदि) को और कन्या को यथा शक्ति धन देकर अपनी इच्छा से कन्या का लेना आसुरधर्म (असुरों की मर्यादा) कहलाता है ।

इच्छयाऽन्योऽन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च
गान्धर्वः सतु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।३२।

कन्या और वर (दोनों) का अपनी इच्छा से संयोग, जो कि काम से उत्पन्न हुआ मैथुन सम्बन्धी है, वह गान्धर्व धर्म (गन्धर्वों की मर्यादा) जानना चाहिये ।

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते । ३३ ।

(कन्या के रक्षकों को) मार काट कर और (किलेको) तोड़ कर रोती पुकारती कन्या का बलात् घर से ले जाना राक्षस (राक्षसों की) मर्यादा कहलाती है ।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।३४।

जब कोई पुरुष एकान्त में सोई हुई वा नशा पी हुई, वा प्रमत्त हुई (पागल हुई) वा घबराई हुई (वा और किसी तरह अपना शील बचाने में उपेक्षा वाली हुई) के पास जाता है, तो वह विवाहों में से पाप का भरा हुआ अधम आठवां पैशाच (पिशाचों का) विवाह है ।

इन में पहले चार निर्विवाद आर्यविवाह हैं । जिन को उत्तम माना गया है । गान्धर्व भी आर्यों में स्वीकृत था । राक्षस राक्षसों में प्रचलित था, पर यह क्षत्रियों के लिए वैध मान लिया गया था । सम्भव है, राक्षसों के अत्याचार के प्रतियोग में इसे स्थान मिला हो । आसुर वैश्यों में भी वैध मान गया था, जैसा कि अब भी रुपया दे कर वैश्यों में होते हैं, और जाति में वैध (कानून ठीक) माने जाते हैं, ऐसे उस समय भी इसे अवैध नहीं ठहराया, वह भी वैश्य और शूद्र के लिए । ब्राह्मण क्षत्रिय के लिए नहीं । यद्यपि कई आचार्य इस को निन्दनीय तो मानते थे, पर अवैध नहीं ठहराते थे, किन्तु पैशाच विवाह सर्वथा अवैध ही माना गया है ।

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयोविदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः । २४ ।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।२५।

बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मण के लिए पहले चार (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य) को उत्तम कहते हैं, क्षत्रिय के लिए (इन से अलग) एक राक्षस और वैश्य शूद्र के लिए आसुर मानते हैं। २४। अन्तले पांच (प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच) में से तीन धर्मयुक्त (कानून ठीक) हैं, दो अधर्मयुक्त कहे गये हैं, पैशाच और आसुर कभी नहीं करने चाहिये। २५। इस प्रकार दण्डनीति (कानून) की दृष्टि में गान्धर्व राक्षस और आसुर की भी अनुमति दी है, आज्ञा नहीं। पर प्रशस्त चारों ही माने हैं, जैसे—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानु पूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ३९

रूपसत्त्व गुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ४०

क्रम से कहे ब्राह्म आदि चार विवाहों में ही ब्रह्मवर्चस (धर्म के तेज) वाले और शिष्टों के प्यारे पुत्र उत्पन्न होते हैं। ३९। सुन्दर रूप और सत्त्व गुण से युक्त, धन वाले, यश वाले, वहुत बड़े भोगों वाले और बड़े धर्मात्मा होते हैं और सौ वर्ष जीते हैं।

एषां तु धर्म्याश्चत्वारो ब्राह्माद्याः समुदाहृताः।
साधारणः स्याद् गान्धर्वस्त्रयोऽधर्म्यास्ततः परे

(नारद १२।४४)

इन में से ब्राह्म आदि चार धर्मयुक्त कहे गये हैं, गान्धर्व साधारण है, उस से अगले तीन (राक्षस, आसुर, पैशाच) अधर्म युक्त हैं ॥ यद्यपि राक्षस और आसुर व्यवहार में (कानून में) ठीक हैं, तथापि धर्म विरुद्ध हैं। राक्षस में इच्छा के विरुद्ध छीनना है, और पैशाच तो सर्वथा ही त्याज्य है। कन्या मोल लेने के कारण आसुर धर्मविरुद्ध है। जैसा कि मनु और काश्यप ने कहा है—

आददीत न शूद्रोपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥
एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥
नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥

(मनु० ९। ९८–१००)

शूद्र भी कन्या देता हुआ शुल्क न लेवे, क्योंकि शुल्क ग्रहण करता हुआ कन्या का गुप्त विक्रय करता है ॥९८॥ यह काम न पहले भले पुरुषों ने कभी किया, न अब करते हैं, कि एक से प्रतिज्ञा करके फिर दूसरे को कन्या दी जाय ॥ ९९ ॥ और न पूर्वली सृष्टियों में यह बात कभी सुनने में आई, कि शुल्क नाम वाले मूल्य से कन्याओं का गुप्त विक्रय हुआ हो ॥ १००

क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते।
न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत्॥
(काश्यप ४६)

मोल खरीदी जो नारी है, वह पत्नी नहीं कहलाती। वह न दैवकार्य में न पित्र्यकार्य में अधिकारिणी है, काश्यप ने उस को दासी कहा है॥ यह निन्दार्थवाद ऐसे विवाहों को रोकने के लिए है।

पतिपत्नीभाव पक्का कब होता है।

वाग्दान की प्रथा जैसी आज कल है, इस का प्रमाण बहुत प्राचीन समय में नहीं मिलता, उस युग में प्रायः विवाह के समय ही वर कन्या की ढूंढ होती थी और निश्चय हो जाने पर विवाह हो जाता था, पर स्मृतिकाल में वाग्दान प्रचलित था, पहले वाग्दान हो कर कुछ समय के पीछे विवाह होता था, जैसा कि आज कल प्रचार है, तो भी आर्यजाति में जैसा इस सम्बन्ध को पवित्र माना गया है, उस से वाग्दान भी वैसे ही महत्त्व का है, जैसा दूसरी जातियों में विवाह। इसलिए मुख्य कल्प तो यही है,कि वाग्दान करने से पहले ही सब कुछ पूरा २ सोच लेना चाहिये, जब एक बार वाग्दान हो गया, तो फिर वह अटल रहना चाहिये। जैसा कि कहा है-

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।

सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥

(मनु० ९। ४७)

एक ही बार (भाइयों का) विभाग होता है, एक ही बार कन्या दी जाती है, एक ही बार देने का वचन दिया जाता है, ये तीनों सत्पुरुषों के एक ही बार होते हैं (बार २ नहीं होते) ॥ तथापि समाज में सभी प्रकार के पुरुष होते हैं। वर पक्ष वा कन्या पक्ष वालों को धोखा भी हो सकता है, धोखा दिया भी जाता है, और भी कई कारण हो सकते हैं, जिन से लोग वचन देकर भी फिर ना चाहेंगे, उसके लिए नीति की दृष्टि से क्या व्यवस्था होनी चाहिये। क्या वाग्दान होते ही पति पत्नी-भाव पक्का हो जाता है, वा उस से पीछे किसी और अवसर पर जाकर पक्का होता है, और फिर अटूट हो जाता है। इस के लिए धर्मशास्त्रों ने ये नियम बांधे हैं।

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥

(मनु० ८। २२७)

पाणिग्रहणसम्बन्धी मन्त्र निश्चित पत्नी हो जाने का निमित्त हैं, उन (मन्त्रों) की समाप्ति (सप्तपदी के) सातवें पद में जाननी चाहिये। (सप्तपदी से पूर्व पति पत्नीभाव की

सिद्धि नहीं होती, अतएव सप्तपदी से पूर्व पछतावा हो, तो वह सम्बन्ध त्यागा जा सकता है)।

पर गान्धर्व आदि जिन विवाहों में मन्त्रों से पाणिग्रहण नहीं होता, उन में यह नियम लागू नहीं होता, वे विवाह अपने रूप में पूर्ण ही होते हैं। हां उन में स्मृतियों ने पीछे होम कर लेना लिखा अवश्य है। जैसा कि देवल ने कहा है—

गान्धर्वादिविवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः।
कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समर्थेनाग्निसाक्षिकम्॥

गान्धर्व आदि विवाहों में फिर तीनों वर्णों को अग्नि को साक्षी करके विवाह कर लेना चाहिये॥

यद्यपि सम्बन्ध पक्का सप्तपदी पर होता है, तो भी वाग्दान भी पक्का ही समझा जाता है। इतना ही भेद है, कि वर दोषयुक्त जान पड़े, तो सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है, बिना दोष के सम्बन्ध तोड़ने में तोड़ने वाला दोषभागी होता है।

दत्त्वा न्यायेन यः कन्यां वराय न ददाति चेत्।
अदुष्टश्चेद्वरो राज्ञा स दण्डयस्तत्र चोरवत्॥
(नारद १२।३२)

न्याय से कन्या देकर जो फिर उस वर को नहीं देता, और वर में कोई दोष भी नहीं, तो वहां राजा उसे चोरवत् दण्ड देवे।

और वर वा कन्या पीछे यदि दोष वाले सिद्ध हों, तब सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये।

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्।

(गौतम ४। ५)

प्रतिज्ञा करके भी अधर्म युक्त को न देवे।

वर और कन्या के दोष, जिन के कारण सम्बन्ध टूट सकता है, कात्यायन ने ये कहे हैं—

उन्मत्तः पतितः कुष्ठी तथा षण्डःसगोत्रजः।
चक्षुःश्रोत्रविहीनश्च तथाऽपस्मार दूषितः॥
वरदोषास्तथैवैते कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः।

पागल, पतित, कुष्ठी, नपुंसक, अपने गोत्र का, नेत्र हीन, श्रोत्र हीन, और मिरगी के रोग वाला, ये वर के दोष हैं, और ये ही कन्या के दोष भी हैं॥ ये दोष उपलक्षण हैं, ऐसे ही और दोष भी हो सकते हैं।

यम और शातातप तो यहां तक लिखते हैं, कि विवाह हो जाने पर वर के घर चले जाने के पीछे भी जब तक अक्षत-योनि है, तब तक उस का दूसरे से विवाह हो सकता है। जैसा कि—

वरश्चेत् कुलशीलाभ्यां न युज्येत कथञ्चन।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत्॥

समाच्छिद्य तु तां कन्यां बलादक्षतयोनिकाम् ।
पुनर्गुणवते दद्या दिति शातातपोऽब्रवीत् ॥
हीनस्य कुलशीलाभ्यां हरन् कन्यां न दोष भाक् ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत् ॥

वर यदि कुलशील से किसी प्रकार न योग्य हो, तो वहां न ही मन्त्र (सम्बन्ध पक्का होने के) कारण होते हैं, और न कन्यानृत (कन्या देने की प्रतिज्ञा करके न देने का दोष) लगता है। अक्षतयोनि उस कन्या को बलात् छीन कर फिर गुणवान् को देदे, यह शातातप ने कहा है।

कुल शील से हीन पुरुष से कन्या को छीन कर दोष भागी नहीं होता। वहां न मन्त्र कारण हैं, न कन्यानृत दोष लगता है ॥ कात्यायन ने भी कहा है—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोपि वा ॥
ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहावरणभूषणा ।

वर यदि अन्य जाति का हो, अथवा पतित हो वा नपुंसक हो, वा कुकर्मी हो, सगोत्र हो, वा दास हो, वा दीर्घरोगी हो, तो विवाह दी हुई भी भूषण वस्त्रों समेत दूसरे को विवाह देनी चाहिये।

विवाह करते ही वर यदि लापता होजाय तो उस के विषय में नारद और कात्यायन यह मानते हैं—

प्रतिगृह्यतु यः कन्यां वरो देशान्तरं व्रजेत्।
त्रीनृतून् समतिक्रम्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम्॥

(नारद १२।२४)

वर यदि कन्या को स्वीकार करके किसी देश को चला जाय (लापता होजाय) तो तीन ऋतुकाल उलांघ कर कन्या दूसरा वर वर सकती है।

वरयित्वा तु यः कश्चित् प्रणश्येत् पुरुषो यदा।
ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम्॥

(कात्यायन)

यदि कोई पुरुष कन्या को वर कर लापता हो जाय, तो तीन ऋतु उलांघ कर कन्या और वर वर सकती है।

इसी प्रकार कन्या के विषय में लिखा है—

विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम्॥

(मनु ९।७२)

विधि अनुसार ग्रहण करके भी कन्या का त्याग कर सकता है, यदि निन्दित हो, रोगिणी हो, किसी पुरुष से दूषित होचुकी हो, वा धोखे से दी गई हो (अर्थात् फुलबहरी आदि दोष ढांप कर दीगई हो)॥

नादुष्टां दूषयेत् कन्यां नादुष्टं दूषयेद्वरम्।
दोषे सति न दोषः स्यादन्योऽन्यं त्यजतस्तयोः॥

(नारद १२।३१)

न अदुष्टा कन्या को दोष लगावे, न अदुष्ट वर को दोष लगावे, हां दोष होने पर एक दूसरे के त्याग में कोई दोष नहीं॥ इस सारे का सार यह है, कि सम्बन्ध वाग्दान से ही पक्का हो जाता है, पर व्यवहारदृष्टि में सप्तपदी के अनन्तर पक्का होता है, और उस के अनन्तर भी यदि शीघ्र ही कोई धोखा जान पड़े, तो पलटा जा सकता है। पर विना दोष के नहीं। और झूठा दोष लगाना भी दोष है।

विवाह सम्बन्धी प्रतिज्ञाएं।

विवाह में वर वधू का हाथ पकड़ कर उसे सम्बोधित करता है—

गृभ्णामिते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः (ऋ० १०।८५।३६)

मैं सौभाग्य के लिए (अपने भविष्यत् को आनन्दमय बनाने के लिए परस्पर के प्रेमभाव, ऐश्वर्य के उपभोग और शुभ सन्तति आदि के लिए) तेरा हाथ पकड़ता हूं, जिस से कि तू मुझ पति के साथ लम्बी आयु को भोगे, हम दोनों को गृहपतियों के धर्म पालने के लिए भग अर्यमा सविता और पुरन्धि देवताओं ने तुझे मेरे हाथ सौंपा है।

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया
च धनेन च । (अथर्व १४ । १ । ४८)

जिस (महिमा) के साथ अग्नि ने पृथिवी का दक्षिण हस्त ग्रहण किया है *, उस (महिमा) से मैं तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, तू मेरे साथ मिल कर सन्तान और धन से कभी न विचलित हो ।

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥
(अथर्व १४ । १ । ५१)

ऐश्वर्य वाला हो कर और धर्म कार्यों में प्रेरने की शक्ति वाला बन कर मैंने तेरा हाथ पकड़ा है । तू धर्म से मेरी पत्नी है, और मैं तेरा गृहपति हूं ।

---

* पृथिवी का सारा जीवन अग्नि (घर्म, हरारत) से है, जो कि भूमि पर स्थावर जंगम की उत्पत्ति और वृद्धि का निमित्त है, अतएव अग्नि पृथिवी का अधिपति है । 'अग्नि ने पृथिवी का दक्षिण हस्त ग्रहण किया है' इस रूपक से यह बोधन किया है, कि स्त्री का दक्षिण हस्त ग्रहण करना उसी को शोभा देता है, जो अपनी पत्नी के साथ एक प्राण हो कर उस की शोभा समृद्धि का ऐसा साधक बना रहता है, जैसे अग्नि पृथिवी की शोभा और समृद्धि का साधक है ।

**ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वदात् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥**

(अथर्व १४ । १ । ५२)

बृहस्पति (वेद के अधिपति) ने तुझे मेरे सिपुर्द किया है, तेरा पालन पोषण मेरा कर्तव्य हो गया है, (परमात्मा की कृपा से) मुझ पति के साथ मिल कर उत्तम सन्तानों से युक्त हुई तू सौ वर्ष का उत्तम जीना जी ।

**अहं विष्यामि मयि रूप मस्या वेदादित् पश्यन् मनसा कुलायम् । न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्ना नो वरुणस्य पाशान् ।
(अथर्व १४ । १ । ५७)**

मैं इस का चित्र अपने हृदय में धारण करता हूं, जिस को मैंने अपने मन का घोंसला (विश्राम स्थान) देख कर प्राप्त किया है । मेरे आनन्द उपभोग इस के साथ होंगे । मैं अब स्वयं वरुण की पाशों को खोल कर उन्मुक्त हुआ हूं, (परमात्मा का जो यह बन्धन है, कि बिना दोनोंका शुद्ध प्रेम हुए कोई किसी नारी को गृहिणी न बनाय, तदनुसार इस नारी को मैं शुद्ध प्रेम का पात्र पाकर और पात्र बन कर अपने मन के साथ इस बन्धन से उन्मुक्त हुआ हूं, अर्थात् धर्ममर्यादा के अनुसार इस को पत्नी बनाया है । मैं बराबर धर्म बन्धन के अन्दर स्थिर रहा हूं, उसे तोड़ा नहीं, किन्तु अब उसे खोला है) ।

इन मन्त्रों में, विवाह सम्बन्ध में वर को वधू का दक्षिण हस्त पकड़ने की विधि दिखलाते हुए हाथ पकड़ने का अधिकार और भार दोनों दिखलादिये हैं । अधिकारी वह है, जो धर्मबन्धन में ऐसा बन्धा हुआ है, कि उस की दृष्टि में अपनी धर्मपत्नी को छोड़ और सब स्त्रियें मातृवत् भगिनीवत् और पुत्रीवत् रही हैं,और आगे भी रहेंगी ; यह बन्धन उस ने केवल अपनी पत्नी के लिए खोला है, जब कि यथाविधि यज्ञ करके उस का पाणिग्रहण किया है । और ऐसे अद्वितीय प्रेम का उसे पात्र बनाना चाहता है, कि अपने हृदय में उस के रूप का चित्र खींच लेगा, और वह नारी उस के थके मांदे वा घबराए मन के लिए विश्राम का स्थान बनेगी ।

हाथ पकड़ने से वर अपने ऊपर यह भार लेता है, कि इस की रक्षा इस का भरण पोषण और इस के सुखों की वृद्धि करना सब मेरा काम है ।

हाथ पकड़ने और पकड़ाने का प्रयोजन यह है, कि दोनों गृहपति बन कर एकप्राण हो कर गृहाश्रम में प्रवेश करें । एक दूसरे के प्रेम में रंगे जाकर सौभाग्य सुख को अनुभव करें, ऐश्वर्य को बढ़ाएं, सुसन्तति का सुख अनुभव करें और परस्पर के अनुकूल बर्ताव और मोद प्रमोद से जीवन की लड़ी को लंबे करते हुए पूर्ण आयु का उपभोग करें ।

पतिकुल में वधू का प्रवेश ।

पति गृह में वधू के प्रवेश करते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है, जो आर्य दम्पती के मिल कर प्रीतिभाव से रहने और घर के भार को संभालने का द्योतक है–

इहं प्रियं प्रजया ते समृध्यता मास्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि । एना पत्या तन्वं संसृजस्वाधा जिव्री विदथमावदाथः ॥

(ऋग्० १० । ८५ । २७)

यहां (इस कुल में) तेरे लिए और तेरी सन्तान के लिए प्रिय (खुशियां) बढ़ती रहें। इस घर में घर की स्वामिनी हो कर काम करने के लिए सदा सावधान रह। इस पति के साथ अपने को एक कर दे, और तब तुम दोनों मिल कर बुढ़ापे तक इस घर पर शासन करो ॥

आर्य जीवन यह है, कि विवाह बन्धन से सुबद्ध हुए पति पत्नी दोनों आपस में ऐसे अभिन्नहृदय हों, मानों दोनों एक हैं। इसी लिए पत्नी अर्धाङ्गिनी कहलाती है। अतएव दोनों का घर पर समान अधिकार होता है। आर्यधर्म में पत्नी पुरुष की दासी नहीं, किन्तु अर्धाङ्गिनी है, घर की स्वामिनी है। इसी लिए तो पति पत्नी को दम्पती कहते हैं। दम वेद में घर का नाम है। दम्पती=दम-पती=घर के दो स्वामी। जैसे पति स्वामी है वैसे पत्नी स्वामिनी है। इसी लिए विवाह के अनन्तर वधू के प्रयाण के समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है उस में आता है—' गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसः (ऋग्० १० । ८५ । २६) (पति के) घरों की ओर चल, जिस से तू घर की स्वामिनी बने ॥

पतिगृह में पत्नी का स्वागत।

पतिगृह में प्रवेश करने पर होम द्वारा वधू का इन मन्त्रों से स्वागत किया जाता है-

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

(ऋग्० १०। ८५। ४३)

प्रजापति हमें सन्तान की वृद्धि देवे, अर्यमा हमें बुढापे तक पहुंचने के लिए तेजस्वी बनाय रक्खे। सुमंगली (कल्याण लाने वाली) हो कर इस घर में प्रवेश कर। कल्याण लाने वाली हो हमारे मनुष्यों के लिए और कल्याण लाने वाली हो हमारे पशुओं के लिए।

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ४४॥

(हे वधू) तेरी दृष्टि कभी क्रूर न हो, पति के जीवन को सदा बढ़ाने वाली हो, पशुओं के लिए कल्याणकारिणी हो, विशालहृदय वाली हो, तेज और कान्ति से पूर्ण हो, वीर जननी बन, परमेश्वर की भक्त बन, सुखदायिनी हो, कल्याण लाने वाली हो, हमारे मनुष्यों के लिए और कल्याण लाने वाली हो हमारे पशुओं के लिए।

इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रनाधेहि पति मेकादशं कृधि।४५।

हे दानी इन्द्र तू इस नारी को सौभाग्यवती और सुपुत्रवती बना,इस में से दस पुत्र दे और ग्यारहवां पति बना (पुत्रों वाली हो और सुहाग बना रहे)।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वांभव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।४६

(हे वधु) महारानी हो ससुर के पास, महारानी हो सास के पास, महारानी हो ननद के पास और महारानी हो देवरों के पास।

'महारानी हो' आर्य घरों में पुत्रवधू का यह आदर होता था, कि जब वह घर में आई, तो घर की देख भाल और समृद्धि का सारा भार पुत्र और पुत्रवधू को सौंप दिया जाता था। पुत्र और पुत्रवधू पर पूरा भरोसा किया जाता था। हां यह निःसंदेह है, कि इतना बड़ा भार योग्यता के साथ संभालने की योग्यता उन में पहले ही उत्पन्न कर दी जाती थी। वे इस भार को अपने कन्धों पर उठा लेते थे और माता पिता को निश्चिन्त कर देते थे। हां उन के आज्ञाकारी बने रहते थे, और उन को अपने देवता जानते हुए सच्ची पितृभक्ति से सुप्रसन्न रखते थे, और उन की असीसें लेकर प्रसन्न होते थे। माता पिता भी उन को योग्यता से सारे कार्य करते देख २ प्रसन्न होते थे। 'महारानी हो' इस वचन से यही तात्पर्य

अभिप्रेत है। इस बर्ताव का प्रभाव उन की सन्तान पर बड़ा ही उत्तम पड़ता था। निःसंदेह जो सीमन्तिनी घर में महारानी बन कर बैठी है, उसी की सन्तति स्वतन्त्रता प्रिय, विशाल-हृदय और धर्मशील होगी। आजकल जो पुत्रवधू पर विश्वास न रख कर कुंजियां सास लटकाए फिरती है, पुत्रवधू से निरा नौकरों की तरह काम लेती है, और पुत्रवधू भी कुछ अयोग्य ही होती है, इस का पहला परिणाम तो घर में कलह, मिथ्या वाद और चोरी का प्रवेश होता है, दूसरा परिणाम यह होता है, कि यही संस्कार आगे सन्तान पर पड़ते हैं और यह स्पष्ट है, कि जो सीमन्तिनी घर में दबी सी रहती है, उस की सन्तति उत्साह और साहस से पूर्ण और स्वतन्त्रताप्रिय तथा विशालहृदय कैसे हो सकती है।

महारानी बन कर सब के सुखों की वृद्धि में दत्तचित्त रहे, न कि उन पर शासन करने लगे, इस अभिप्राय से साथ ही उस के ये कर्तव्य भी बतला दिये हैं-

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥

(अथर्व १० । २ । २७)

सास ससुर आदि सब बड़ों के लिए सुख देने वाली हो, पति के लिए सुख देने वाली हो, घर के सब लोगों के लिए सुख देने वाली हो, इन सब मनुष्यों के लिए सुख देने वाली बन कर इन सब की पुष्टि के लिए तत्पर रह।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृतायकम् ।४२।

सौमनस्य, सन्तान, सौभग्य और ऐश्वर्य की कामना करती हुई, पति की अनुगामिनी बन कर अमर जीवन के लिए सन्नद्ध हो।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्मपूर्वं ब्रह्मान्ततो ब्रह्ममध्यतो ब्रह्म सर्वतः । अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज ।६४।

वेद तेरे आगे हो, वेद पीछे हो, वेद (तेरे कर्मों की) समाप्ति में हो, वेद मध्य में हो, वेद सारी बातों में हो (तेरा सारा आचरण वेदानुकूल हो), जहां किसी भी आधि व्याधि की कोई भी बाधा नहीं ऐसी देवपुरी में प्राप्त होकर, कल्याण लाने वाली और सुख देने वाली हो कर पति के घर में महारानी बन कर चमक।

विवाह में सम्मिलित नरनारी सब मिल कर दम्पती को यह आशीर्वाद दें—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

(ऋग्० १० । ८५ । ४२)

यहां ही रहो (सदा इकट्ठे मिले रहो) मत वियुक्त

होवो, अपने घर में पुत्र पोतों के साथ खेलते हुए आनन्द मनाते हुए पूर्ण आयु भोगो (इस से गृहाश्रम जीवन का यह रहस्य भी दिखला दिया है, कि ऐसे योग्य जोड़े को ही गृहाश्रम का भार उठाना चाहिये, जो गृहाश्रम में अपने और अपने परिवार के जीवन को क्रीड़ावत् आनन्दमय बनाए रख सके)।

इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ॥

(अथर्व १४। २। ६४)

हे इन्द्र इस दम्पती को चकवी चकवे की नाईं (प्रेम के) पूरे रंग में रंग दे, सन्तति समेत यह जोड़ा उत्तम घरों में रहे और पूर्ण आयु को भोगे।

स्योनाद् योनेरधिबुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः। (अथर्व १४। २। ४३)

तुम दोनों सो कर सदा सुखमय घर से उठो, तुम्हारे चेहरे खिले रहें, मोद प्रमोद से भरे रहो, तुम्हारे पास उत्तम घर और उत्तम पशु हों, तुम्हारे घर में शूरवीर यशस्वी तेजस्वी पुत्र हों और तुम उच्च जीवन दिखलाते हुए चमकती हुई उषाओं को पार करते रहो (दीर्घ आयु भोगो)।

गृहाश्रमियों के धर्म ।

गुरु—विवाह सम्बन्ध का वर्णन होचुका, अब हम गृहाश्रमियों के धर्मों का वर्णन करेंगे, सावधान होकर सुनो।

शास्त्र में जो गृहाश्रम की प्रशंसा है, वह तुम पहले सुन चुके हो,इस इतनी बड़ी प्रशंसा के योग्य इस में क्या २ महिमा वाली बातें हैं, वे अब ध्यान धर कर सुनो। बहुत सी बातें हैं और सभी महत्व की हैं, क्रमशः वर्णन करते हैं—

दाम्पत्य प्रेम } वे पति और पत्नी जिन्हों ने अपने जीवन का लक्ष्य एक बना लिया है, उन में कैसा प्रेम होना चाहिये, यह पूर्व दिखला चुके हैं-इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती=हे इन्द्र ! इस दम्पती को चकवी चकवे की नाईं प्रेम के गूढ़े रंग में रंग कर आगे २ बढ़ा ॥

चकवी चकवे का प्रेम जैसा जगत्प्रसिद्ध है, वह प्रेम हर एक दम्पती में एक दूसरे के प्रति होना चाहिये। 'भार्या-पुत्रः स्वकातनुः=पत्नी और पुत्र अपना तन है (मनु० ४। १८४) जो प्रेम मनुष्य को अपने लिए है, वही प्रेम पत्नी और पुत्र के लिए होना चाहिये।

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैवच ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

(मनु० ३। ६०)

जिस कुल में स्त्री से भर्ता और भर्ता से स्त्री सदा प्रसन्न है, वहां कल्याण अटल है।

आदर सम्मान — पूर्व दिखला चुके हैं, कि पत्नी घर में महारानी हो कर प्रवेश करती है, इस से स्पष्ट है, कि आर्यजाति में स्त्रियों को कितने बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। स्मृतियों में भी स्त्रियों के सम्मान की ओर पूरा २ ध्यान दिलाया गया है। जैसे—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहु कल्याणमीप्सुभिः ५५
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा। ५७

पिता, भाई, पति, देवर जो अपने कुल का बहुत बड़ा कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये, कि घर में स्त्रियों का मान करें और उन्हें भूषित करें॥ ५५॥ जिस घर में स्त्रियों का मान होता है, वहां देवता वास करते हैं, और जहां इन का मान नहीं होता है, वहां सब कर्म निष्फल जाते हैं॥ ५६॥

जिस कुल में कुलीन स्त्रियें शोक में रहतीं हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, पर जहां ये शोक में नहीं रहती, वह सदा बढ़ता रहता है।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः। ५८

तस्मादेतः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सुवेषु च। ५९ ।

कुलीन स्त्रियें घर में अनादर पाकर जिन घरों को शाप देती हैं, वे जादू (इन्द्रजाल) से नष्ट हुए की नाईं बिल्कुल नष्ट होजाते हैं । ५९ । इस लिए घर का कल्याण चाहने वाले पुरुषों को चाहिये, कि पर्वों और त्योहारों में सदा वस्त्र भूषण और भोज्य वस्तुओं से इन का सम्मान करते रहें।

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैध्रुवम्। ६०।
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते। ६१।
(मनु३)

जिस कुल में स्त्री से भर्ता और भर्ता से स्त्री सदा प्रसन्न है, वहाँ कल्याण अटल है। ६०। क्योंकि स्त्री यदि प्रसन्न-वदन न हो, तो वह पति को प्रमुदित नहीं कर सकती, और पति के प्रमुदित न होने से संतान की वृद्धि नहीं होती।

स्त्रियांतु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥
(मनु ३। ६२)

स्त्री के प्रसन्न वदन रहने पर सारा घर प्रसन्न रहता है। और उस के अप्रसन्न रहने पर सारा घर ही अप्रसन्न रहता है।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥

(मनु ६ । २६)

सन्तानवृद्धि के लिए बड़े भाग्यों वाली स्त्रियें घरों की शोभा हैं, अतएव सम्मान के योग्य हैं। स्त्रियें और श्री घरों में एक तुल्य हैं, इन में कोई विशेष नहीं (स्त्रियें घर की लक्ष्मी हैं)

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वसुरदेवरैः ।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥

(याज्ञ १ । ८२)

भर्ता, भाई, पिता, ज्ञाति, सास, ससुर, देवर तथा बन्धुओं को चाहिये कि भूषण वस्त्र और भोज्य वस्तुओं से स्त्रियों का सम्मान करें। ऐसे ही स्त्री भी—

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा संयतेन्द्रिया ।
इहकीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥

(याज्ञ १ । ८७)

जो स्त्री पति के प्रिय और हित में लगी रहती है, धर्म पर चलने वाली है, और इन्द्रियों को संयम में रखने वाली है,

वह इस लोक में कीर्ति पाती है और मर कर उत्तम गति पाती है ।

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

(मनु ५ । १५५)

स्त्रियों का अलग न कोई यज्ञ, न व्रत है, न उपवास है, यदि वह पति की सेवा करती है, तो उसी से स्वर्ग में महिमा पाती हैं ।

दानात् प्रभृति या तु स्याद् यावदायुः पतिव्रता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

जो दान के समय से लेकर आयु भर पति की अनुगामिनी रहती है, वह पतिलोक को प्राप्त होती है और सत्पुरुषों से साध्वी कही जाती है ।

कुर्याच्छ्वसुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ।

(याज्ञ १ । ८३)

पति परायण हुई सास ससुर की नित्य पादवन्दना किया करे ॥

इस प्रकार घर में सब एक दूसरे का आदर सम्मान रक्खें ।

स्त्री के धर्म } अथ स्त्रीधर्माः। भर्तुः समान-व्रतचारित्वं श्वश्रूश्वसुरगुरुदेवताऽतिथीनां पूजनं सुसंयतोपस्करताऽमुक्तहस्तता सुगुप्तभाण्डता मूलक्रियास्वनभिरतिर्मङ्गलाचारतत्परता (विष्णु)

अब स्त्री के धर्म कहते हैं—पति के अनुव्रत होकर धर्म-कार्यों का अनुष्ठान, सास ससुर गुरु देवता और अतिथियों का पूजन, रसोई के बर्तन सुथरे और सजे हुए रक्खे, (व्यय में) हाथ खुला न रक्खे, घर के सभी पदार्थ सुरक्षित रक्खे, जादू टोने आदि को घृणा की दृष्टि से देखे, और मंगलाचार में तत्पर रहे।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥
(मनु ५। १५०)

सदा प्रसन्न रहे, घर के कार्यों में निपुण हो, रसोई के बर्तन सुथरे और सजाए रक्खे, और व्यय में हाथ खुला नहीं रक्खे।

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे॥
(मनु ९। ११)

धन के संभालने और खर्चने में, (वस्तुओं की और शरीर की) शुद्धि में, (पूज्यों की सेवा वा अग्निहोत्र आदि) धर्म कार्य में, अन्न पकाने में और घर के साधन उपसाधनों की देख भाल में इसे लगाए।

लक्ष्मी पृथिवी संवाद में अलंकार से पृथिवी के प्रति लक्ष्मी के ये वचन कहे गये हैं—

नारीषु नित्यं सुविभूषितासु पतिव्रतासु प्रियवादिनीषु। अमुक्तहस्तासु सुतान्वितासु सुगुप्तभाण्डासु बलिप्रियासु॥

सुस्पष्टवेशासु जितेन्द्रियासु कलिव्यपेतास्व-विलोलुपासु। धर्मव्यपेक्षासु दयान्वितासु स्थिता सदाऽहं जगतां विधात्रि॥

हे जगत् जननि (पृथिवि)! मैं (लक्ष्मी) सदा उन स्त्रियों में निवास करती हूं, जो सदा सुथरी रहती हैं, पति-व्रता हैं, मीठा बोलने वाली हैं, हाथ खुला नहीं रखतीं, पुत्रों से युक्त हैं, घर की वस्तुओं को संभाल कर रखती हैं, वैश्व-देव यज्ञ में प्रेम रखती हैं, सादा वेश रखती हैं, जितेन्द्रिया हैं, लड़ाई झगड़े से अलग रहती हैं, लालच से रहित हैं, धर्म की परवाह रखती हैं और दयावाली हैं।

इस प्रकार कार्य में लगी रहने से ही उन का स्वभाव और स्वास्थ्य अच्छे बने रहते हैं। परिश्रम करते रहने से शरीर में बल बना रहता है आयु दीर्घ होती है और कान्ति

बनी रहती है। आज कल जो आढ्य कुलों में परिश्रम घटता चला जाता है, इस का परिणाम स्त्रियों के स्वास्थ्य आयु और कान्ति पर बड़ा ही अनिष्टकारक हो रहा है। अपने कुल का कल्याण चाहने वालों को इधर सावधान होना चाहिये ।

धर्म, अर्थ, काम ।

धर्म=पुण्य कर्म (यज्ञादि) और सदाचार, अर्थ=जीवन और उपभोग के लिए अपेक्षित हर वस्तु, धन, पशु, गृह, आदि। काम=उपभोग। इन में से अर्थ और काम की ओर तो हर एक गृहस्थ की स्वतः सिद्ध प्रवृत्ति होती है। उपभोग तो अपने आप खींचता है, और अर्थ के बिना उपभोग उपलब्ध नहीं होते, इस लिए मनुष्य अर्थ की ओर झुकता है । पर स्मरण रक्खो, इन दोनों से मानुष जीवन चरितार्थ नहीं होता । इन दोनों से बढ़ कर एक और पदार्थ है, जिस के बिना ये दोनों व्यर्थ हैं, हां जिस के बिना जीवन निष्फल चला जाता है, वह इन दोनों को सरस बनाने वाला, गृहस्थ को सद्गृहस्थ बनाने वाला और जीवन को सफल बनाने वाला पदार्थ धर्म है । इन तीनों का यथोचित सेवन गृहस्थ का धर्म है।

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥
(मनु॰ २ । २२४)

कई धर्म और अर्थ को श्रेय (कल्याणप्रद) कहते हैं,

दूसरे काम और अर्थ को, कई निरे धर्म को श्रेय कहते हैं, पर सिद्धान्त यह है, कि यह सारा त्रिवर्ग मिलकर श्रेय है॥

केवल धर्म और अर्थ को श्रेय मानने वालों का यह आशय है, कि लोक की हरएक आवश्यकता अर्थ से सिद्ध हो जाती है, और धर्म से परलोक का सुधार होता है। काम=उपभोग, धर्म और अर्थ का फल है, उस को मानुषजीवन का एक अलग उद्देश्य मानने की आवश्यकता नहीं। और जो केवल धर्म को ही श्रेय मानते हैं, उन का यह आशय है, कि मूल सब का धर्म ही है, धर्म से अर्थ और काम दोनों सिद्ध हो जाते हैं, इसलिए जीवन का लक्ष्य केवल एक धर्म ही ठहराना चाहिये, अर्थ और काम नहीं। अब जो अर्थ और काम वा केवल अर्थ वा केवल काम को ही पुरुषार्थ मानते हैं, वे परलोक के न मानने वाले नास्तिक हैं। पर आर्य ऋषियों का यही सनातन सिद्धान्त है, कि धर्म तो उपादेय है ही, किन्तु अर्थ और काम भी उपादेय हैं, इस लिए तीनों का यथोचित सेवन ही गृहस्थ का उद्देश्य होना चाहिये। हां यह सत्य है, कि मनुष्य को धर्मप्रधान अवश्य होना चाहिये। जब अर्थ और काम अपने किसी कर्तव्य के पालन करने की भावना से किये जाते हैं, तब अर्थ और काम भी धर्म का रूप धार लेते हैं। जैसे कि सूर्यवंशी राजा दिलीप के वर्णन में कवि कालिदास ने कहा है—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुःप्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः॥

(रघु० १।२५)

वह दण्डनीयों को ही दण्ड देता था, इस लिए कि समाज की धर्ममर्यादा न टूटने पाए, उसने विवाह इस लिए किया था, कि उस के घर सन्तान हो, इस प्रकार उस बुद्धिमान् के अर्थ और काम भी धर्म रूप ही थे।

इस पर मल्लिनाथ लिखता है—" अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापन प्रजोत्पादनरूपधर्मार्थत्वेनानुष्ठानादर्थकामावपि धर्मशेषतामापादयन् स राजा धर्मोत्तरोऽभूदित्यर्थः। आह च गौतमः—

न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान् कुर्यात् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्य स्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्।

अर्थ और काम के साधन जो दण्ड और विवाह हैं, इन दोनों का सेवन उसने धर्ममर्यादा की स्थापना और संतान का उत्पादन रूप धर्म के लिए किया, इस प्रकार अर्थ और काम को भी धर्म का अंग बनाता हुआ वह राजा धर्म प्रधान हुआ। जैसा कि गौतम कहते हैं—

मनुष्य को चाहिये, कि सवेर दुपहर और पिछलापहर इन में से एक तनिक भी समय निष्फल न गंवाय यथाशक्ति धर्म अर्थ काम का सेवन करे, उन में भी धर्मप्रधान हो कर रहे।

महाभारत में भी विदुर ने धृतराष्ट्र को यही उपदेश दिया था—

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्म-
मूलं वदन्ति । धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या-
पुत्रान् सर्वान् पाहि पाण्डोः सुतांश्च ॥

हे राजन् ! इस त्रिवर्गरूपी वृक्ष की जड़ धर्म है, धर्म को ही इस राज्य की भी जड़ बतलाते हैं, सो हे राजन् ! अपनी शक्तिभर धर्म पर चल कर अपने सारे पुत्रों की और पाण्डु के पुत्रों की रक्षा कर ।

धृतराष्ट्र यदि विदुर के उपदेशानुसार राज्य की जड़ (धर्म) को न कटने देता, तो उस के पुत्रों का राज्य अटल बना रहता । पर विदुर का यह दूसरा उपदेश कि "त्रिवर्गरूपी वृक्ष की जड़ धर्म है " हम सब के लिए है । देखो यदि इस वृक्ष की छाया और फल (अर्थ काम) का उपभोग करना चाहते हो, तो इस जड़ को सेचन करो । जड़ जितनी हरी भरी रहेगी, जितनी दृढ़ होगी, जितनी गहरी चली जायगी और जितनी दूर २ तक फैल जायगी, उतना ही तुम इस वृक्ष के देर तक फल भोगोगे ।

गृह } इस त्रिवर्ग में अर्थ के अन्तर्गत गृह भी है । गृहशाला, वास्तु,ये गृह के नाम हैं । वास्तु= रहने का स्थान कैसा होना चाहिये ।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि-

शृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पद मव भाति भूरि ॥ (ऋग्० १।१५५।५)

(हे दम्पती !) तुम दोनों के जाने के लिए हम वे घर चाहते हैं, जहां सब से आश्रय लेने योग्य (स्वास्थ्यप्रद) रश्मियें आती जाती रहें, यहां ही सब से स्तुति के योग्य सब के दाता विष्णु की सब से-ऊंची महिमा बलवत् प्रकाशती है (जिन घरों में सूर्य का प्रकाश खुला आता है, उन में स्वास्थ्य उत्तम रहने के हेतु बल बुद्धि आयु और प्रजा की वृद्धि होने से परमात्मा की महिमा प्रकाशती है, और वहां ही हृदयों में परमात्मा प्रकाशते हैं, यह ध्वनि से बोधित किया है । यहां जो यह उपदेश किया है, कि घरों में प्रकाश खुला आता जाता रहे, इस से यह सिद्ध होता है, कि एक तो घर एक दूसरे से मिले हुए नहीं होने चाहियें, किन्तु एक दूसरे से अलग २ चारों ओर से खुले होने चाहियें, दूसरा यह, कि घर के मध्य में खुला स्थान होना चाहिये, जिस में धूप आ सके, और चारों ओर हर एक अगार (कमरे) में वहां से भी प्रकाश जा सके । ऐसे घर ही स्वास्थ्यप्रद होते हैं । आज कल नगरों में जो घर हैं, वे इस से विपरीत हैं, अतएव आज कल के स्वास्थ्य अच्छे नहीं रहे, रोगों की वृद्धि हो गई है और आयु घट गई है । हमारे घर की शोभा और सम्पदा क्या है, इस का वर्णन अथर्व १० । १२ में इस प्रकार आया है—

इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति

घृतमुक्षमाणा। तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उपसंचरेम॥ १॥

यहां पर मैं एक स्थायी शाला की नीव डालता हूं, जो घृत को सींचती हुई सदा सुरक्षित खड़ी रहे। हे शाले! तेरे अन्दर हम अपने उन समस्त वीरों समेत आनन्द से विचरते रहें, जो सदा धर्म पर चलते रहें और रोगों से बचे रहें।

'घी को सींचती हुई' घी को पानी की तरह छिड़कती हुई अर्थात् जिस में घी खुले दिल पानी की तरह बर्ता जाय। "आयुर्वै घृतम्" घी मनुष्य की आयु है।

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती। ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

हे शाले यहीं दृढ़ हो कर अपनी नीव जमा, और गौओं से घोड़ों से मीठी वाणियों से तथा अन्न दूध और घी से मालामाल हुई तू बड़े सौभाग्य के लिए ऊंची हो।

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या। आ त्वा वत्सो गमदा कुमार आधेनव सायमास्यन्दमानाः॥ ३॥

हे शाले तू एक विशाल छत वाला भंडार है, तू शुद्ध (धर्म से कमाये) और बल बुद्धि वर्धक अनाज से भरपूर बनी रहे । सायं समय बछड़े धेनुएं और छोटे २ बच्चे तेरी ओर उमड़े हुए चले आवें ।

ऐसे घर में प्रवेश करके ब्रह्माण्डपति परमेश्वर को अपने घर का अधिष्ठाता मान कर उस के साथ ऐसा गाढ़ा सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, कि वह हमें घर में अपना पिता वा अपना सखा प्रतीत होने लगे, और हम अपना योगक्षेम इस दावे के साथ उस से मांगें, जैसा पुत्र पिता से और सखा सखा से मांगता है । जैसा कि कहा है—

वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवा नः । यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे । १ ।

(ऋग् ७।५४)

हे वास्तोष्पते ! (हे हमारे घर के स्वामी) हमें स्वीकार करो (अपना बनाओ) (इस घर में) हमारा निवास हमारे लिए शुभ हो । हमें सदा रोगों से बचाय रक्खो, जो कुछ हम आप से मांगें, वह हमें प्रीति से दो, हमारे मनुष्यों और पशुओं पर सदा दयालु रहो ॥

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व । २ ।

हे वास्तोष्पते ! हमें वृद्धि दो, हे ऐश्वर्य के अधिपति ! गौओं और घोड़ों से हमारे बल बढ़ाओ, हम तुम्हारी मैत्री में कभी बूढ़े न हों (तुम्हारे साथ हमारी मैत्री कभी पुरानी न हो, सदा नयी बनी रहे) पिता बन कर हम पुत्रों से प्यार करो ।

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः । ३ ।

हे वास्तोष्पते ! तुम्हारी संगति–जो कल्याणमयी, सुहावनी और सीधे मार्ग पर चलाने वाली है, उस से हम संगत रहें । हम जब उद्योग कर रहे हों, वा विश्राम कर रहे हों सदा हमारी रक्षा करो । हे देवताओ ! सब प्रकार के कल्याणों (बरकतों) से सदा हमारी रक्षा करो ॥

इस प्रकार परमात्मा को अपने घर में घर के रक्षक, अपने पिता, और अपने सखा के रूप में सदा अंगसंग अनुभव करो और उसकी सहायता से अपने घर को सुख का धाम बनाओ ।

उठने का समय और प्रथम कर्तव्य ।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥

(अथर्व १० । ७ । ३१)

सूर्य से पहले और उषा से पहले नाम नाम से (इन्द्र वरुण प्रजापति आदि भिन्न २ नामों से) उसे पुकारना चाहिये, जो अजन्मा है (अतएव) इस जगत् से पहले प्रकट था, वह निःसंदेह जगत्प्रसिद्ध स्वराज्य को पाये हुए हैं, जिस से बढ़ कर कोई सत्ता नहीं है।

यह मन्त्र आज्ञा देता है, कि सूर्य से पीछे कभी न उठो, सदा सूर्य से पहले उठो, और उत्तमता यह है, कि उषा से भी पहले उठो। और उठते ही सब से पहले उस का नाम लो, उस का आह्वान करो, उस का धन्यवाद गाओ, जिस का इस सारे विश्व पर स्वतन्त्र राज्य है, और स्वतन्त्र हो कर भी स्वयं अपने नियमों का पालन करता है, उस के साथ सम्बन्ध जोड़ने से जीवन में बल आता है।

उषा से पहले उठे हो, तो अब उषा के दृश्य को वैदिक-दृष्टि से देखो। वेद में जो दिव्य दृश्य वर्णन किये हैं, वे निरे दृश्य नहीं, किन्तु उन से परमेश्वर की महिमा और उस दृश्य के द्वारा हमारे ऊपर होने वाले उपकार दिखलाना अभिप्रेत होता है, सो तुम इसी रूप में वैदिक दृश्यों को देखो—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् (ऋग् १। ११३।१)

यह ज्योतियों में से श्रेष्ठ ज्योति आई है, यह रंगीला दृश्य (आकाश में) फैलता जा रहा है जैसे उषा सूर्य की प्रवृत्ति

के लिए स्थान छोड़ देती है, वैसे रात्री ने उषा के लिए स्थान छोड़ दिया है।

इस से आर्यजीवन का यह अंग भी दिखला दिया है, कि एक आर्य को अपना निवास वहां रखना चाहिये, जहां दिव्य दृश्य उस के सम्मुख आते रहें। इन दृश्यों के देखने से प्रसन्नता बढ़ती है, स्वास्थ्य बढ़ता है, प्रसन्नवदन रहने का स्वभाव बनता है, और ईश्वर की महिमा से पूरित इन दृश्यों को देखने से आत्मबल बढ़ता है और ये सभी बातें लोक में कार्य सिद्धि का मूल हुआ करती हैं।

ब्राह्मेमुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानु चिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थ मेव च॥

(मनु० ४। ९२)

ब्राह्ममुहूर्त (उषाकाल=प्रभात समय) में जागे, जाग कर करने योग्य धर्म और अर्थ का विचार करे, उन (धर्म अर्थ) से होने वाले शरीर के क्लेशों को और वेद के तत्त्व अर्थ को विचारे।

स्नान और शुद्धि।

शौचादि करके प्रति दिन स्नान करना, वस्त्रों को शुद्ध रखना, घर और घर की हर एक वस्तु को शुद्ध सुथरा रखना हरएक गृहस्थ का कर्तव्य है।

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्तिदेवी

रुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि (ऋग्० १०।१७। १०; यजु० ४।२७)

जल के प्रवाह जो मातृवत् पालक हैं, हमें शुद्ध करें, बहते और झरते जलों से पवित्र करें। दिव्य जल सारी बुराइयों (सारे मलों और रोगों) को बहा ले जाते हैं, मैं शुद्ध पवित्र हो कर इन से बाहर आता हूं।

वृष्टि के जल और नदियों के प्रवाह दिव्य गुणों वाले होते हैं, ऐसे दिव्य सात्विक जलों में स्नान करने से मनुष्य के मल और रोग दूर होते हैं और मन में उज्वल भाव उत्पन्न होते हैं।

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानसमाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥
(मनु० ४।२०३)

नदियों में अकृत्रिम तालावों में, झीलों में, नालों और झरनों में सदा स्नान करे ॥

अभिप्राय यह है, कि स्वच्छ जल में सदा स्नान करे, जैसे तैसे में नहीं।

शुद्ध और स्वच्छ वस्तुएं ही देखने में भली लगती हैं, देखने को जी चाहता है, स्वास्थ्य के लिए अच्छी होती हैं, और मन के भावों पर अच्छा प्रभाव डालती हैं, इस लिए धर्मशास्त्रों में बड़े विस्तार से ये बातें बतलाई हैं, कि मल

मूत्रादि के त्याग पर मट्टी जल आदि कितनी बार लगाने चाहियें, घर की शुद्धि किस प्रकार करनी चाहिये, बर्तनों और वस्त्रों आदि की शुद्धि किस २ द्रव्य से किस २ प्रकार करनी चाहियें, इत्यादि। पर इन सब के अन्दर एक ही रहस्य है, वह यह, कि हरएक वस्तु को मैलकुचैल से शुद्ध रक्खो, जिस से तुम्हारे अपने वा किसी दूसरे के मन को भी ग्लानि न हो, और स्वास्थ्य पर भी दुष्प्रभाव न पड़े। अतएव शुद्धि का एक यही रहस्य ध्यान रख लेना चाहिये कि–

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु॥
(मनु० ५॥ १२६)

जब तक अमेध्य से लिबड़ी वस्तु से उस का (अमेध्य वस्तु का) गन्ध और लेप दूर न हो जाय, तब तक सभी द्रव्य-शुद्धियों में मट्टी और जल लगाते जाना चाहिये॥

इस से स्पष्ट है, कि अभिप्राय उस अमेध्य (मल, गंद) के असर को सर्वथा दूर कर देने से है, न कि मट्टी और जल लगाने की गिनती पूरी करने से। जो लोग तनिक २ मट्टी लगा २ कर गिनती पूरी किया करते हैं, वे शास्त्र के अभिप्राय से अनभिज्ञ होने से भ्रम में फंसे हुए हैं। शास्त्र का विरोध तो इस में भी नहीं आता, कि मट्टी के स्थान साबुन वा कुछ और वर्ता जाय; शास्त्र को अभिमत है, विरुद्ध नहीं। सभी शुद्धियों में नियम तो पूर्वोक्त ही बर्तना चाहिये, तथापि बाह्याभ्यन्तर शुद्धि के ये विशेषनियम ध्यान में रखने योग्य हैं।

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्नमृद्वारिशुचिःशुचिः १०६
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेना कार्य कारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।१०७।
मृत्तोयैः शुध्यतं शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ।१०८
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥
(मनु० अ० ५)

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मट्टी, मन, जल, लेपन, वायु, कर्म, सूर्य और काल ये लोगों की शुद्धि करने वाले हैं (इन में से ज्ञान और तप जीवात्मा के शोधक हैं, जैसे कि आगे १०६ में है । अग्नि से जैसे पुनः पाकेन मृन्मयम्=मट्टी का बर्तन (आग में) फिर पकाने से शुद्ध हो जाता है (मनु० ५ । १२२) महामारी आदि से दूषित घर भी औषधों से और तपाने से वा औषध विशेषों के होम से शुद्ध होते हैं । मट्टी जल से शुद्धि कह चुके हैं, मन-जैसे मनः पूतं समाचरेत्=

मन से शोधा हुआ आचरण करे (मनु० ६ । ४६) और मन से पश्चात्ताप करने से पापों से शुद्धि होती है (देखो मनु० ११ । २२९-२३२) इसी प्रकार शुद्ध भावना से किया कर्म शुद्ध होता है । लेपन—मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म=शोधने लीपने से घर शुद्ध होता है (५ । १२२) । वायु और सूर्य अपवित्रता के शोधक प्रसिद्ध हैं । कर्म, वेदाभ्यासादि पापों के शोधक हैं (देखो मनु० ११।२४५) काल, जो पदार्थ आज अशुद्ध है, समय पाकर आप ही शुद्ध हो जाता है । सूतक पातक में दिनों का नियम है) ॥ १०५ ॥ सारी शुद्धियों में से धन की शुद्धि (नेक कमाई से कमाया धन) सब से उत्तम कही गई है, जो धन में शुद्ध है, वह शुद्ध है, (धन में अशुद्ध रह कर) मट्टी और जल से शुद्ध शुद्ध नहीं ॥ १०६ ॥ विद्वान् क्षमा से शुद्ध होते हैं, अकार्य करने वाले दान से, गुप्त पापों वाले जप से, और वेद के जानने वाले श्रेष्ठ पुरुष तप से शुद्ध होते हैं ॥ १०७ ॥ अमेध्य से लिबड़ी (शोधने योग्य वस्तु) मट्टी और जल से शुद्ध होती है, नदी वेग से शुद्ध होती है (नदी में पड़ा मैला वा दूषित जल बाढ़ से शुद्ध होता है), जिस के मन में विकार उत्पन्न हुआ है वह स्त्री ऋतु आने से शुद्ध होती है, ब्राह्मण संन्यास से शुद्ध होता है ॥ १०८ ॥ जल से अंग शुद्ध होते हैं, मन सचाई से शुद्ध होता है, विद्या और तप से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ॥ १०९ ॥

पञ्च महायज्ञ।

पञ्चमहायज्ञों के नाम ये हैं-ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और नृयज्ञ वा अतिथियज्ञ।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३। ७०)

(वेद का पढना) पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, (अन्न जल आदि से पितरों का) तर्पण पितृयज्ञ हैं, होम देवयज्ञ है, (प्राणियों के लिए) बलि भूतयज्ञ है और अतिथियों का पूजन नृयज्ञ है।

पंचमहायज्ञ नित्य कर्म हैं

ये पञ्च महायज्ञ आर्यों के नित्य कर्म हैं। नित्य कर्म वे कहे जाते हैं, जो किसी लौकिक कामना से नहीं, किन्तु आत्मबल की प्राप्ति और समाज की वृद्धि के लिए किये जाएं; जिन से धर्म का मार्ग ज्ञात हो, सब के लिए सुख बढ़े, पूज्यों की पूजा हो, सहायता के पात्रों को सहायता मिले और हृदय के उदार भावों में वृद्धि हो। ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेद के स्वाध्याय तथा दूसरे धर्म ग्रन्थों के पाठ से और व्याख्यान से धर्म का मार्ग ज्ञात होता है, परमात्मा की महिमा के स्मरण से उस की पूजा होती है और हृदय के उदारभावों की वृद्धि होती है। देवयज्ञ से सब के लिए सुख बढ़ना है, और अपने अन्दर सच्चे त्याग का भाव उत्पन्न होता है। पितृयज्ञ से पूज्य पितरों की पूजा होती है। वैश्वदेव से दीन अनाथ आदिकों को सहा-

यता मिलती है और नृयज्ञ से उदारता बढ़ती है। और यह फल इन सब यज्ञों का सांझा है।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनूः॥
(मनु० २।२८)

स्वाध्याय से, वेदोक्त धर्म के अनुष्ठान से, सुयोग्य पुत्रों से, व्रत, होम, इष्टि, महायज्ञों और यज्ञों के अनुष्ठान से आत्मा ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बन जाता है। शतपथ में इन पञ्च महायज्ञों का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है—

पञ्चैव महायज्ञाः, तान्येव महासत्राणिभूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति॥ १॥ अहरहर्भूतेभ्यो बलिꣳहरेत्, तथैतं भूतयज्ञꣳ समाप्नोति। अहरहर्दद्यादोदपात्रात् तथैतं मनुष्ययज्ञꣳ समाप्नोति। अहरहः स्वधा कुर्यादोदपात्रात् तथैतं पितृयज्ञꣳ समाप्नोति। अहरहः स्वाहाकुर्यादाकाष्ठात्, तथैतं देवयज्ञꣳ समाप्नोति॥२॥ अथ ब्रह्मयज्ञः, स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः, तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्यवागे-

वजुहूः, मनउपभृत्, चक्षुर्ध्रुवा, मेधास्रुवः, सत्यमवभृथः,स्वर्गोलोक उदयनं। यावन्तꣳ हवा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति भूयाꣳ संवाऽक्षय्यं, य एवं विद्वान हरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ ३ ॥ (श० ब्रा० ११।३।८।१–३)

पांच ही महायज्ञ हैं, वे ही महासत्र हैं * भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ ॥ १ ॥ प्रति दिन प्राणधारियों (गौ दीन अनाथ आदि) के लिए बलि निकाले, इस प्रकार वह अपने भूतयज्ञ को पूरा करता है । प्रति दिन (अभ्यागतों को) कुछ देवे चाहे जल का पात्र ही हो (खाना देने का सामर्थ्य न हो, तो पानी ही पीने को देवे) इस प्रकार वह अपने मनुष्ययज्ञ को पूरा करता है । प्रति दिन पितरों को देवे चाहे जल का पात्र ही हो, इस प्रकार वह अपने पितृयज्ञ को पूरा करता है । प्रति दिन होम करे चाहे सूखी लकड़ी का ही हो, इस प्रकार वह अपने देवयज्ञ को पूरा करता है ॥२

---

* जो दीर्घकाल तक अखण्ड याग किये जाते हैं, उन को सत्र कहते हैं । ये पांचों महायज्ञ और महा सत्र इस लिए हैं, कि ये बिना नागा करने के लगातार बहुत ही दीर्घकाल तक किये जाते हैं ।

अब ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है। यह जो ब्रह्मयज्ञ है, वाणी ही इस की जुहू है,मन उपभृत् है नेत्र ध्रुवा है, मेधा स्रुव है, सत्य अवभृथ है, स्वर्गलोक उदयन है। मनुष्य इस सारी पृथिवी को धन से भर कर दान देता हुआ जिस फल का भागी होता है, इस से तिगुने अथवा उस से भी बढ़ कर अथवा अक्षय फल का भागी वह होता है, जो इस रहस्य को समझता हुआ स्वाध्याय करता है, इस लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

सन्ध्या } सन्ध्या ब्रह्मयज्ञ का अंग है। मनुष्य प्रति दिन परमात्मा के ध्यान में मग्न हो कर उस की महिमा को विचारे और मनुष्यमात्र का कल्याण करने वाली शक्तियों की परमात्मा से अपने लिए और सब के लिए प्रार्थना करे, इस अभिप्राय से जो मन्त्र नियत किये गये हैं, वही सन्ध्या है।

उद्यन्तमस्तंयान्त मादित्यमभि ध्यायन्
कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥

(तैत्ति० आ० २। २। २)

सूर्य के उदय और अस्त के समय ध्यान करता हुआ और (प्राणायामादि) करता हुआ ब्राह्मण विद्वान् सकल कल्याण (यहां वहां दोनों लोक के कल्याण) को प्राप्त होता है।

तस्माद्ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्या मुपास्ते स ज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनात्; सो

अस्याः कालः सा सन्ध्या तत् सन्ध्यात्वम् ।
(षड्विंश ब्रा० ४। ५)

इस लिए ब्रह्म का उपासक दिन और रात के सन्धि समय में सन्ध्योपासना करे ज्योति वाले समय से लेकर अगली ज्योति के देखने तक, * वह इस का समय है, वह सन्ध्या है, यह सन्ध्या का सन्ध्यात्व है ।

इस प्रकार दिन रात के मिलने के दोनो वेले परमात्मा का धन्यवाद गाने और प्रति दिन दोने वेले अपने जीवन पर दृष्टि डालते रहने से मनुष्य का मन दिन पर दिन उच्च होता चला जाता है । चाहे कितना ही कोई बिगड़ा हुआ हो, जूं ही कि परमात्मा की भक्ति में शुद्धभावना से मन लगाता है, उसका मन शुद्ध होने लग जाता है और वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है । श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है-

अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९। ३०-३१)

यदि महा दुराचारी भी अनन्यभक्त हो कर मुझे भजता है, तो उसे भला ही जानना चाहिये, क्योंकि उस ने भला निश्चय किया है ॥ ३० ॥ वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है,

* प्रातः सन्ध्या तारों की ज्योति से सूर्य की ज्योति तक और सायं सन्ध्या सूर्य की ज्योति से तारों की ज्योति तक करे ।

और सदा की शान्ति पाता है.हे अर्जुन ! निश्चय जान कि मेरा भक्त कभी नाश नहीं होता है ॥

जो मनुष्य परमेश्वर परमात्मा को भुला देता है, और अपने जीवन पर दृष्टि नहीं डालता, उस का जीवन उच्च रह नहीं सकता, इसी दृष्टि से आर्यजाति ने एक समय यह व्यवस्था दे दी थी ।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विज कर्मणः ॥

(मनु० २ । १०४)

जो न प्रातः सन्ध्या करता है, और न सायं सन्ध्या उपासता है,उसे शूद्र की नाईं द्विजों के सारे कर्तव्य से अलग कर देना चाहिये ॥

ऋषि लोग जो बड़ी २ आयु भोगते थे और उन में ब्रह्मतेज की जोत सदा जागती रहती थी, इस का कारण भी दीर्घ सन्ध्या वा परमात्मा की ओर उन की गाढ़ भक्ति ही बतलाया गया है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेवच ॥

(मनु० ४ । १४)

ऋषि लोग लम्बी सन्ध्या करने से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चस को प्राप्त हुए हैं ।

सन्ध्या वा ईश्वर भक्ति में जितना प्रेम हमारे पूर्वजों में था, वह इससे बड़ा स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जब हनुमान् जी लंका में सीता का पता लगा रहे थे, ढूंढते २ रात बीत गई, कहीं पता न पाया। बहुत उदास हुए, नगर से बाहर आ गये। एक नदी के तट पर आ पहुंचे। स्थान एकान्त और स्वच्छ और नदी का जल निर्मल देख कर यों बोले-

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्याति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥५०॥
यदिजीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।
आगमिष्यति साऽवश्य मिमां शीतजलां नदीम्॥

सन्ध्याकाल हुआ जान वह युवति जानकी सन्ध्या करने के लिए अवश्य ही इस शुभ जल वाली नदी पर आएगी॥५०॥ यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीती है, तो अवश्य इस शीत जल वाली नदी पर आयेगी॥५१॥

देखिये हनुमान् को इस बात में तो संशय है, कि न जाने सीता जीती है, वा नहीं, पर इस बात पर पूर्ण विश्वास है, कि यदि जीती है, तो सन्ध्या करने अवश्य आयेगी। वे लोग क्यों न परमात्मा के कृपापात्र हों, जिन के जीता होने में तो संशय हो सकता है, पर सन्ध्या करने में संशय नहीं हो सकता। परमात्मा के साथ इतना गहरा प्रेम तुम्हारे प्राचीन-जीवन मे पाया जाता है। इस जीवन को ग्रहण करो, और परमात्मा की कृपा के वैसे ही तुम भीपात्र बनो, जैसे तुम्हारे पूर्वज थे॥

देवयज्ञ } दूसरे यज्ञ का नाम देवयज्ञ है। यह यज्ञ भी सन्ध्या की नाईं सायं प्रातः दोनों समय किया जाता है। इसी का नाम अग्निहोत्र, होत्र, होम वा हवन यज्ञ भी है। यज्ञ का अर्थ है पूज्यों की पूजा वा दूसरों की भलाई के लिए त्याग। इस यज्ञ से प्रजापति की पूजा होती है और अग्नि में सब की भलाई के लिए द्रव्य का त्याग किया जाता है। इस लिए इसे देवयज्ञ कहते हैं।

शिष्य--प्रजापति से अभिप्राय आप का किसी एक देवता से है, वा उन सब देवताओं को प्रजापति कहते हैं, जिन के लिए होम किया जाता है?

गुरु—प्रजापति वह है जो इन सारी प्रजाओं का अधिपति है, वह एक ईश्वर है, दूसरा कोई नहीं। वही हमारा पूज्य देवता है, उसी के लिए हम यज्ञ करते हैं।

प्रश्न--यज्ञ में तो इन्द्र सूर्य अग्नि आदि अनेक देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। जिस २ देवता के लिए आहुति दी जाती है, वह उस २ देवता की पूजा हुई, न कि एक प्रजापति की।

उत्तर—निःसन्देह स्थूलदृष्टि से यह भूल सभी को होती है, और इसका कारण भी है। पर वेद का मुख्य तात्पर्य एक परमात्मा के प्रतिपादन में ही है। इसका सविस्तर विचार उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में होगा। यहां केवल तुम्हारी शंका का समाधान कर देते हैं सुनो-

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२१ के १० मन्त्र हैं, जिन में

से ९ के अन्त में वार २ एक ही प्रश्न पूछा गया है-'कस्मै देवाय हविषा विधेम=हम किस देवता की हवि से पूजा करें। इस प्रश्न के उत्तर में जिस देवता का वर्णन है, उस की महिमा का वर्णन करके उसी का नाम लेकर अन्त में कहा है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि-ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १० ॥

हे प्रजापते ! तू ही इन सारी प्रजाओं पर शासन कर रहा है, दूसरा कोई नहीं । सो हम जिस २ कामना से तेरे लिए होमते हैं, हमारी वह २ कामना पूरी हो, हम नाना ऐश्वर्यों के स्वामी बनें ॥

जब साक्षात् यह प्रश्न उठा कर, कि 'हम किस देव की हवि से पूजा करें' यह उत्तर दे दिया, कि उस प्रजापति की, जिस का शासन सारी प्रजाओं पर है, वही हमारी सारी कामनाओं का पूरने वाला है, तब हमारा यजनीय देव एक प्रजापति ही है, इस में क्या संदेह रहा ।

अब रहा यह प्रश्न कि इन्द्र आदि भिन्न २ नामों से क्या अभिप्राय है ? इस का उत्तर यह है, कि परमात्मा को प्रजा-पति=प्रजा का पालक, इस विशिष्ट रूप में कहा है, कि यह सारा विश्व जो विराट् कहलाता है, यह उस का शरीर है, और वह इस का अन्तरात्मा है । इस विशिष्टरूप में उसे प्रजा-पति कहा है, इस रूप में द्यौ उस का सिर, सूर्य नेत्र और

पृथिवी पाओं है, इत्यादि रूपक से सारी दिव्य शक्तियों में उसी की शक्ति और उसी की महिमा दिखलाई है। अतएव ये सूर्य आदि भी उस की महिमा का प्रकाश करते हुए इस व्यष्टिरूप में भी उसी अन्तरात्मा के प्रकाशक हुए यज्ञिय देवता हैं, पर ये प्रजापति से भिन्न नहीं। वही जो समष्टिरूप में प्रजापति है, वही व्यष्टिरूप में सूर्य वायु आदि नाम से पुकारा गया है, अर्थात् एक ही परमात्मा को समष्टि जगत् के अधिपति के रूप में प्रजापति कहा है और उसी को भिन्न २ व्यष्टियों के अधिपति के रूप में इन्द्र मित्र वरुण आदि कहा है, जब इस प्रकार व्यष्टिरूपों में उस की भिन्न २ महिमा का अलग २ वर्णन आता है, तो ये स्थूलदृष्टियों को भिन्न २ देवता जान पड़ते हैं, जब कि तत्ववेत्ताओं को भिन्न २ रूपों में उसी एक का वर्णन जान पड़ता है। जैसा कि तत्त्ववेत्ताओं ने कहा है—

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥ (निरु० ७। ४)

प्रजापति का ऐश्वर्य बहुत बड़ा है, इस लिए इस एक ही आत्मा की इस प्रकार स्तुति की गई है, जैसे कि वे बहुत से हैं। एक ही देवता है, दूसरे सारे देवता उसी एक आत्मा के अलग २ अंग हैं।

तद् यदिदमाहुरमुंयजामुंयजेत्येकैकं देव

मेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः ॥
(बृ० उप० ४ । १६)

सो जो यह कहते हैं, कि उस का यजन (हवि से पूजा) करो, उस का यजन करो, इस प्रकार एक २ देवता का (यजन कहते हैं) वह इसी एक का सारा फैलाव है, यही सारे देवता है ।

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः ।
(ऐत० आ० ३ । २ । ३ । १२)

इस परमात्मा को ऋग्वेदी बड़े उक्थ में विचारते हैं, इसी को यजुर्वेदी अग्नि मे उपासते हैं, इसी को सामवेदी महाव्रत में उपासते हैं ॥ वेद स्वयमेव इस विषय में कोई संशय नहीं रहने देता, जब कि वह स्पष्ट घोषणा देता है—

इन्द्रं मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णोगुरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (ऋ० १ । १६४ । २२)

उस एक शक्ति को विद्वान् अनेक रूपों में वर्णन करते हैं-इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं, वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् है, उसी अग्नि को यम और मातरिश्वा कहते हैं ।

सारांश यह है, कि प्रजापति ही हमारा यज्ञिय देव है,

कहीं समष्टि महिमा में, और कहीं व्यष्टि महिमाओं में पर है सर्वत्र वही हमारा एक लक्ष्य। उसी के लिए हमारी स्तुति, उसी के लिए हवि और उसी से प्रार्थना है।

दूसरा प्रश्न यह है, कि यज्ञ अग्नि में ही क्यों किया जाय, इस का उत्तर यह है, कि अग्नि में ही यह सामर्थ्य है, कि होम्य द्रव्य के अणुओं को पृथक् २ करके सारे विश्व में फैलादे। अग्नि में होमे हुए द्रव्य से पहले वायु संस्कृत होता है, फिर वायु द्वारा वायु म बाष्प के रूप में स्थित जल संस्कृत (शुद्ध और बल पुष्टि कारक) होता है। वही संस्कृत जल साक्षात् वा नदियों झरनों आदि के द्वारा हमारे काम आता है। इस संस्कृत जल से उत्पन्न हुए हमारे खाने के साग पात अनाज फल सब बलपुष्टस्वाध्यकर होते हैं। इस प्रकार अग्नि में किया होम सारे देवताओं में बट जाता है और हमारा उपकार करता है। मानों सारे देवता (जीवन देने वाली दिव्य शक्तियां) इस को भक्षण कर लेते हैं, इसी अभिप्राय से अग्नि को विराट् का मुख वा देवताओं का मुख कहा है, यह फल अग्नि से अन्यत्र किये यज्ञ से नहीं मिल सकता, जैसा कि कहा है—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति। (ऋ० १।१।४)

हे अग्ने! कुटिलता से रहित जिस यज्ञ को तुम सब ओर से घेर लेते हो, वही देवताओं में पहुंचता है।

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम् । त्वया मर्तास स्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः ।

(ऋ० २ । १ । १४ ।)

हे अग्ने ! सारे देवता जो (हमारी) भलाई में लगे हुए हैं, वे तुझ में होमी हुई हवि को तुझ मुख से खाते हैं । (हमारे अन्दर जाठराग्निरूप से रहते हुए) तुझ से मनुष्य रस का स्वाद लेते हैं, तू लताओं के अन्दर (उन को कान्ति देता हुआ) प्रकट होता है, तू जो चमकने वाला है ।

अब होम के योग्य द्रव्य क्या है ? इसका उत्तर यह दिया है—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन । (ऋ० ८।४४।१)

समिधा से अग्नि की सेवा करो, घृत से इस अतिथि को प्रचण्ड करो, और इस में अन्य हव्य पदार्थों को भी चारों ओर से होमो ।

घृत से भिन्न हव्य पदार्थ कैसे होने चाहिये, इस का संक्षिप्त उत्तर यह है—

यज्ञे यज्ञे स मर्त्यो देवान् सपर्यति । यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान् (ऋ० १० ९३ । २)

वह मनुष्य यज्ञ यज्ञ में देवताओं की पूजा करता है, जो बहुशास्त्रवेत्ता हो कर (जगत् के लिए) सुखकर हव्यों से इन को पूजता है। (अर्थात् होम्य द्रव्य वही हैं, जिन के होमने से देवता हमारे लिए सुख शान्ति के देने वाले बनें)।

यज्ञ का फल } यज्ञ का एक तो लौकिक फल आरोग्य आदि की वृद्धि है, जैसा कि कहा है–

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिव-मन्वाततान । स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजाया ᳫ रायस्पोषं विश्व मायुरशीय स्वाहा (यजु० ८।६२)

यज्ञ का दोह (दूध, उत्तम फल) सर्वत्र फैल गया है, वह आठ प्रकार से (चारों दिशाओं और चारों उपदिशाओं में) आकाश में फैला है । हे यज्ञ तुम मेरी सन्तति में महिमा उत्पन्न करो मैं धन की पुष्टि और पूर्ण आयु को भोगूं ।

मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥६॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तुनः पिता ॥७॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ (ऋ० १ । ९० । ६-८ यजु० १३ । २७- २९)

यज्ञ से प्यार करने वाले के लिए वायु मधुमय (आरोग्य बल और पुष्टि देने वाले सार से भरे हुए) हों, नदियें मधुमय हो कर बहें । ओषधियें हमारे लिए मधु से भरी हुई हों ॥ ६ ॥ रात हमारे लिए मधु हो और उषाएं मधु हों, पृथिवी (जो हमारी माता है उस) का एक २ कण हमारे लिए मधु से भरा हो और हमारा पिता द्यौ हमारे लिए मधुमय हो ॥ ७ ॥ वनस्पति हमारे लिए मधु से भरे हों, सूर्य मधुमय हो और गौएं मधु से भरी हों ॥८॥

यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ।

(यजु० ८ । ६०)

जिस किसी लोक में यज्ञ पहुंचता है, वहीं से मेरे लिए भलाई आती है ।

दूसरा फल अन्तःकरण की शुद्धि है । हर एक पुण्यकर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है । यज्ञ भी पुण्यकर्म है, सब की भलाई का कर्म है, इस से अन्तःकरण शुद्ध हो कर ज्ञान प्राप्ति के योग्य होता है । दूसरा, यज्ञ करने वाले को यज्ञ की सफलता के लिए भी सदाचार का पूरा ध्यान रखना होता है । जैसा कि वह पर्वयाग को आरम्भ करते समय प्रतिज्ञा करता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे-राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥

(यजु० १ । ५)

हे व्रतपते अग्ने ! मैं व्रत का अनुष्ठान करूंगा, (मुझे

शक्ति दो कि) मैं उसे पूरा कर सकूं, वह मेरा सफल हो, यह मैं अनृत से सत्य की शरण लेता हूं।

इस प्रकार वह व्रत धारण करता है और हर एक पर्व में उसे दुहराता रहता है, कि उस ने झूठ को त्याग दिया है और सत्य की शरण ली है।

श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को यज्ञ की महिमा बतलाते हुए कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

(गीता ३।१०)

(सृष्टि के) आरम्भ में प्रजापति ने यज्ञ की अधिकारी प्रजाओं (मनुष्यों) को रच कर कहा, इस से तुम बढ़ो, यह तुम्हारी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करने वाला हो।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।११।

इस यज्ञ से तुम देवताओं को बढ़ाओ, वे देवता तुम्हें बढ़ाएंगे इस प्रकार एक दूसरे की वृद्धि करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होओ।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।१२।

यज्ञों से देवता तुम्हें मनमाने भोग (वर्षा आदि) देंगे,

उनके दिये भोगों में से उन को न देकर (अर्थात् यज्ञ किये बिना) जो खाता है, वह चोर ही है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात् १३

यज्ञ शेष के खाने वाले भद्र पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं, किन्तु वे पापी निरा पाप खाते हैं, जो निरा अपने ही निमित्त पकाते हैं॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।१४।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।१५।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।१६।

प्राणधारी सारे अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न मेघ से उत्पन्न होता है, मेघ यज्ञ से होता है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।१४। कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान, वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इस लिए सर्व व्यापक ब्रह्म यज्ञ में सदा स्थित रहता है (=यज्ञ करने वाले को अपनाकर उस पर अपना स्वरूप प्रकाशित करता है) १५। इस प्रकार परमात्मा के चलाए चक्र को

जो आगे नहीं चलाता, हे अर्जुन उसका जीवन पाप का जीवन है, वह विषयों का दास व्यर्थ जीता है ॥ इसी प्रकार भगवान् मनु लिखते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुप तिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टे रन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्नि में यथाविधि डाली हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएं होती हैं।

यज्ञ से शिक्षा } यज्ञ एक ऐसा कर्म है, जिस से सब का भला होता है, करने वाले का भी और अड़ोसियों पड़ोसियों का भी। अतएव कहा है—

यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति (ऐत० ब्रा० १।२।३)

यज्ञ भी उस जनसमुदाय की भलाई के लिए होता है, जहां ऐसा विद्वान् 'होता' होता है।

सो यज्ञ हमें यह शिक्षा देता है, कि सब के भले में अपना भला जानो, दूसरा यह कि दूसरों की भलाई के लिए अपना स्वार्थत्याग (इदं नमम) करो। अतएव हमारे पूर्वज दोनों समय अग्निहोत्र करके सब की भलाई को लक्ष्य में रख कर ये प्रार्थनाएं किया करते थे।

श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां विद्यां पुष्टिंश्रियं बलम् ।
तेज आयुष्यमारोग्यं देहि मे हव्यवाहन । १ ।
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
निर्धनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ।२।
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ३
सर्वेपि सुखिनः सन्तु सर्वेसन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ४
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो माव्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्त्विति
अन्नं च नो बहु भवेदातिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च नः सन्तु मास्म याचिष्म कञ्चन ।६।

हे हव्यवाहन ! मुझे श्रद्धा, मेधा (धारणावाली बुद्धि) यश, प्रज्ञा (दानाई) विद्या, पुष्टि, श्री (सब प्रकार की शोभा) बल, तेज, आयु और आरोग्य दो । १ । जिन के घर पुत्र नहीं हैं, वे पुत्रों वाले हों, और जो पुत्रों वाले हैं वे पोतों वाले हों,

जिनके घरों में धन नहीं, वे धनवान् हों, और सभी सौ २ वर्ष की आयु भोगें । २ । समय पर मेघ बरसे, पृथिवी खेतियों से भरपूर हो, यह देश क्षोभ से रहित हो (हमारे देश में कभी बेचैनी न हो) और ब्राह्मण निर्भय हों । ३ । सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी मंगल देखें, कोई भी दुःखभागी न हो । ४ । हम में दाता बढ़ें, वेद बढ़े और हमारी सन्तान बढ़े, श्रद्धा हममें से कभी दूर न हो, और देने के लिए हमारे पास बहुत कुछ हो । ५ । हमारे घरों में अन्न की बहुतायत हो, अतिथि आवें और खावें । हम से मांगने वाले हों और हम कभी किसी से न मांगें ॥

पितृयज्ञ—तीसरा महायज्ञ **पितृयज्ञ** है । पिता, माता, पितामह, पितामही, प्रपितामह, प्रपितामही और पिता आदि के छोटे बड़े भाई और उन की पत्नियें वे सब पितर कहलाते हैं । उन की पूजा यह है, कि उत्तम खान पान पहरान से उन को सदा प्रसन्न रक्खो और उनके आशीर्वाद लेते रहो श्रद्धा के साथ अपने हाथों से सेवा शुश्रूषा करो, सेवा में कभी त्रुटि न करो, और उन्हें कभी कोई क्लेश न होने दो, जिस से कि वे निश्चिन्त होकर भगवद्भजन में और परोपकार में अपना समय बितावें । यदि कुछ उनका अपना कमाया हुआ है, तो वह निःशंक उन को पुण्यदान करने दो, और यदि नहीं भी है, तो तुम अपनी कमाई में से यथाशक्ति उन को पुण्य दान के लिए देते रहो । उन को अपना परलोक सुधारने में सहायता दो । माता पिता अपने पुत्रों को अपनी कमाई कहा करते हैं, और यह सच भी है, कि तुम उनकी कमाई हो,

क्योंकि उन्होंने अपना धन सुख आराम सब कुछ तुम पर न्योछावर करके तुम्हें पाला और कमाने योग्य बनाया है, अब तुम्हारी कृतज्ञता इसी में है, कि तुम उनके लिए तनिक संकोच न करो। वे तुम्हारे प्रत्यक्ष देवता हैं, देवतावत् उन को पूजो। यह वचन कभी न भूलो, जो गुरु अपने शिष्य को घर भेजते समय कहता है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव ।

माता तुम्हारा देवता हो, पिता तुम्हारा देवता हो। जब तुम प्रातः उठ कर उनके दर्शन पाते हो, तो समझो कि साक्षात् देवता के दर्शन कर रहे हो। तुम जो कुछ भी उन के लिए करोगे, थोड़ा है, क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

(मनु २ । २२७)

माता पिता बच्चों की उत्पत्ति और पालने में जो क्लेश सहते हैं, उस का पलटा सैंकड़ों वर्षों (अर्थात् कई जन्मों) से भी नहीं चुकाया जा सकता है।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते । २२८ ।

उन का सदा प्रिय करता रहे और आचार्य का प्रिय करता रहे। इन तीनों के प्रसन्न रखने में तप सारा संपूर्ण हो

जाता है (इन को प्रसन्न रखने के लिए जो इन की सेवा है, इस से बढ़ कर कोई तप नहीं है ।)

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥

जिसने इन तीनों का आदर किया, उसने सारे धर्मों का आदर किया, और जिसने इन का अनादर किया, उस के सारे ही धर्म निष्फल हैं ।

भूतयज्ञ–यह यज्ञ स्मृतियों में अब इस प्रकार पाया जाता है, कि अन्न सिद्ध होने पर उसमें से कुछ आहुतियें दे और फिर थाली वा पत्तल पर सोलह बलियां रक्खे जो किसी को खिला देवे वा अग्नि में डाल देवे । तदनन्तर—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥

(मनु ३ । ९२)

कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पापरोगी (कुष्ठी आदि) कौए और कृमियों के लिए धीरे से भूमि पर अन्न रक्खे ॥ यह बलिकर्म आरम्भ में बिलकुल सीधा सादा था, और अभिप्राय यह था, कि हरएक गृहस्थ अपने पाक में से अवश्य कुछ दीन अनाथों के लिए निकाले, और पशु तथा वनस्पतियों का पालन अपना कर्तव्य समझे । इस से सर्वत्र आसानी के साथ असहाय दीन और अनाथों का पालन हो जाता था, तथा पशु

और वनस्पतियों का पालन जो अपने लिए और देश के लिए बहुत उपयोगी है, वह भी सहज हो जाता था। इस में शिथिलता आजाने से बनस्पतियों के पालने के स्थान 'वनस्पतिभ्योनमः' कह कर एक ग्रास, और पशुओं के पालने के स्थान 'गोभ्यो नमः' कह कर एक गोग्रास आरम्भ हुआ, इसी का पीछे बढ़ा हुआ रूप (जैसा कि अब स्मृतियों में पाया जाता है) है। पर यह निःसंदेह है, कि अनाथ असहायों का स्वयं पालन करना, वा अनाथालयों को दान देना और अपने घरों में गौओं और घोड़ों तथा अन्यपशुओं का पालन और अपने घरों के आसपास वा अपने बगीचे और खेतों में वनस्पतियों और पौधों का लगाना और पालना सच्चा बलि वैश्वदेव कर्म है।

नृयज्ञ–पांचवां महायज्ञ नृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ वा अतिथि यज्ञ कहलाता है। जब कोई यात्री दिन के भोजन के समय वा रात को घर पर आवे, तो उस को सत्कारपूर्वक भोजन आदि खिलाए, न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत तद्व्रतम् किसी को घर में से वापिस न फेरे यह व्रत हो (तैत्ति० ३। १०) इस का नाम मनुष्ययज्ञ है, इस से मनुष्यमात्र का आदर सत्कार करना अभीष्ट है।

तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते (तै० उ० ३। १०)

इस लिए जिस किसी विध से बहुत अन्न प्राप्त करे, क्योंकि वे (भले गृहस्थ) इस के लिए (अतिथि के लिए)

अन्न तय्यार है, यही कहते हैं (' नहीं ' कभी नहीं कहते) ।

ब्रह्मचारियों और सन्यासियों को भिक्षा देना भी नृयज्ञ के अन्तर्गत है । नृयज्ञ के विषय में भगवान् मनु लिखते हैं-

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद् विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥

(मनु ३ । ९४)

यह बलिकर्म करके, तब पहले अतिथि को भोजन कराए, और भिक्षु (संन्यासो) और ब्रह्मचारी को यथाविधि भिक्षा देवे ।

यत् पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः ।
तत् पुण्यफल माप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजोगृही ॥

गुरु को विधि अनुसार गौ दे कर जिस पुण्यफल को प्राप्त होता है, उस पुण्यफल को गृहस्थ द्विज भिक्षा देने से प्राप्त होता है ।

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् । ९६ ।
नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः९७

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ९८

भिक्षा वा (भिक्षा न बन सके तो) जलपात्र ही विधिपूर्वक सत्कार करके उस ब्राह्मण को देवे, जो वेद के रहस्यार्थ का जानने वाला है ॥९६॥ वेद के तेज से शून्य ब्राह्मण को अनजान लोग भूल से जो हव्य कव्य देते हैं, वे सब उन के निष्फल जाते हैं ॥ ९७ ॥ पर विद्या और तप से युक्त ब्राह्मणों के मुख रूपी अग्नि में जो कुछ होमा जाता है, वह उस दानी को सकट से और बड़े पाप से बचाता है ॥९८॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति संस्कृत्य विधिपूर्वकम् ।९९।
शिलानप्युञ्छतोनित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ।१००।

घर में आए अतिथि को विधिपूर्वक सत्कार करके आसन, जल और अन्न अपने सामर्थ्य के अनुसार देवे ॥ ९९ ॥

चाहे सिला भी चुन कर जीविका करता हो और तिस पर भी पांचों अग्नियों में होम भी करता हो, तौ भी यदि उस के घर में ब्राह्मण अतिथि बिना पूजा के रहता है, तो वह उस के सारे पुण्य को ले जाता है ॥ १०० ॥ अन्न देने का सामर्थ्य न भी हो, तौ भी स्वागत और सत्कार में त्रुटि नहीं होनी चाहिये ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥१००

(बैठने के लिए) कुशा और भूमि, (पीने आदि के लिए) जल और चौथी मीठी वाणी ये (चारों वस्तुएं) भलों के घरों में से कभी दूर नहीं होतीं ।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥

सूर्य से भेजा हुआ (सूर्य अस्त होने के समय आया) अतिथि गृहस्थ को कभी वापिस नहीं फेरना चाहिये, समय पर आया हो, वा बिन समय (भोजन कर चुकने के पीछे) पर बिना खाए इस के घर में न रहे ।

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यंवाऽतिथिपूजनम् ॥

वह (वस्तु) स्वयं न खाए, जो अतिथि को न खिलाए । अतिथि का पूजन धन, यश, दीर्घ जीवन और स्वर्ग का देने वाला है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥१०७॥

आसन, घर, शय्या, पीछे चलना और (ठहरे हुए को)

आदर मान, यह अतिथियों की योग्यता के अनुसार हीन सम और उत्तम करे।

इतरानपि सख्यादीन् संप्रीत्या गृह मागतान्।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत् सह भार्यया॥

और भी जो अपने मित्रादि प्रीति से घर में आये हैं, उन को भी अपनी शक्ति अनुसार सत्कार पूर्वक अपने साथ (न कि अतिथियों के साथ) खिलाए।

अतिथि पूजनीय हैं, इस लिए उन को पहले खिला कर पीछे आप खाना चाहिये। पर—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन्॥

नयी विवाही स्त्रियों, छोटी कन्याओं, रोगी पुरुष स्त्रियों और गर्भवती स्त्रियों को बिन विचारे अतिथियों से पहले ही खिला देवे॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः॥

जो मूर्ख इन को भोजन न देकर आप पहले खाता है, वह खाता हुआ नहीं जानता, कि (मरने के पीछे) उसे कुत्ते और गीध खाएंगे।

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैवहि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥

अतिथि ब्राह्मण और अपना पोष्य वर्ग जब सब खा चुके, उस के पीछे इन से बचा दम्पती खावें।

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्चदेवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चात् गृहस्थः शेषभुग् भवेत्॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टासनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते॥११८॥

देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और गृह्य देवताओं (बलि वैश्व देवताओं) को पूज कर इस के पीछे गृहस्थ बचे हुए को खाए॥११७॥ वह निरा पाप खाता है, जो निरा अपने निमित्त पकाता है, क्योंकि जो यज्ञशेष (यज्ञ से बचा अन्न) है, वह भलों का अन्न कहलाता है॥ वेद में भी यही कहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि-वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवते केवलादी। (ऋ० १०।११७।६)

वह मूर्ख अन्न को व्यर्थ लाभ करता है, मैं सत्य कहता हूं, कि वह इस का नाश ही है, जो न परमात्मा के नाम पर

देता है, न किसी मित्र को सहायता देता है, अकेला खाने वाला निरा पापी बनता है।

शास्त्र जहां एक ओर अतिथिसेवा को बड़ा पुण्यकर्म बतलाते हैं, वहां दूसरी ओर यह भी ध्यान रखने योग्य बात है, कि गृहस्थ होकर अपनी कमाई ही खानी चाहिये। अतिथि सेवा के लोभ में पड़ कर किसी के घर अन्न न खाए, ऐसा करेगा, तो पापी होगा।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥

(मनु० ३ । १०४)

जो मन्दबुद्धि गृहस्थ दूसरों के अन्न पर निर्वाह करते हैं, वे मर कर उस (पराअन्नभोजनदोष) से अन्नादि देने वालों के पशु बनते हैं।

जो केवल भोजन के लिए आपहुंचते हैं, इन को अतिथि समझना ही न चाहिये।

नैकाग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद् भार्या यत्राग्नयोपि च ॥

(मनु० ३ । १०३)

जो उसी ग्राम में रहता है, वा सांगतिक (किसी काम काज) से आया है, घर में ऐसे पुरुष को अतिथि न समझे चाहे वहां स्त्री और अग्नियें भी हों (अर्थात् वैश्वदेव का समय भी हो) ॥

इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों के करने से गृहस्थ में उच्च भाव बने रहते हैं, हृदय में कृतज्ञता और उदारता बनी रहती है, और हृदय शुद्ध बना रहता है।

कमाई (धनार्जन)

धन की आवश्यकता हर एक गृहस्थ को है, और चाहे कितना ही इस से रोका जाय, लोग इस की ओर झुकते हैं, तथापि प्रायः धार्मिक सम्प्रदायों ने धन ऐश्वर्य की निन्दा की है, क्योंकि धन और प्रभुता पाकर प्रायः लोग मदमत्त हो जाते हैं, दुर्बलों को सताते हैं, परमात्मा को भुला देते हैं।

ऐसा को जन्म्यो भव माहिं, प्रभुता पाय जास मद नाहिं ॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

जवानी, धनसंपदा, प्रभुता, और अविवेक, इन में से एक २ भी अनर्थ के लिए होता है, क्या फिर जहां यह चौकड़ी इकट्ठी हों।

धनवानों की ऐसी अवस्था देख कर ही धर्माचार्यों ने धन की निन्दा की है और वैराग्य का उपदेश दिया है। धन के कमाने में भी लोगअनेक प्रकार के कपटजाल रचते हैं। बहुरूपिये की तरह भांति २ के भेस बदलते हैं–उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः' तो फिर क्या धन सर्वथा त्याज्य होना चाहिये, इस का उत्तर हां में नहीं दिया जा सकता है, देखने में आता है, कि धन के विना गृहस्थ के काम चल ही नहीं सकते। परि-

वार का पालन पोषण, घर में आए इष्टमित्र बन्धुवान्धवों का आदर सम्मान, पूज्यों की पूजा, पात्रों को दान, असहायों की सहायता इत्यादि बहुत से कर्तव्य गृहस्थ के द्रव्यसाध्य हैं, बिना द्रव्य के इन का कैसे पालन करेगा, जिस के अपने ही काम अटके पड़े हों, वह दूसरों की क्या सहायता करेगा? जिस के घर अपने परिवार के लिए भी अन्न पूरा नहीं, उसे अतिथिसेवा क्या सूझेगी, सच तो यह है कि—पेट न पइयां रोटियां, ते सभे गल्लां खोटियां।

लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः
कान्तासङ्गः स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः।
धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां संभवन्ति॥

लज्जा, (बन्धु बान्धव और इष्ट मित्रादि के साथ) स्नेह, स्वर में मधुरता, बुद्धि का फुरना, यौवन की शोभा, कान्ता से प्रेम, अपने जनों में ममता, दुःख की हानि, विलास की बातें, धर्म, शास्त्र का विचार, देवता और गुरुओं की पूजा, शौच, आचार का विचार, ये सारी बातें लोगों को तभी सूझती हैं, जब पेट की बटलोई भरी हुई हो।

इतना ही नहीं, किन्तु धनहीनों में बहुत से अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। पाप भी इन में बढ़ जाता है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

भूखा क्या पाप नहीं करता है ?

गृहस्थ के लिए दरिद्रता महापाप है। जैसा कि कहा है-

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेद मापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या
परित्यज्यते । निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता
सर्वापदा मास्पदम् ॥

दरिद्रता से लज्जा को प्राप्त होता है (दूसरों के समक्ष अपने फटे वस्त्रादि से लज्जा आता है) लज्जा से व्याप्त हुआ दबाया जाता है, दबा हुआ उदास रहता है, उदास हुआ शोक को प्राप्त होता है, शोक से आतुर की बुद्धि मारी जाती है, निर्बुद्धि हुआ नाश को प्राप्त होता है, शोक ! निधनता सारी अपदाओं का घर है ।

विफलमिह पूर्वसुकृतं विद्यावन्तोपिं कुलसमुद्भूताः
यस्य यदा विभवः स्यात् तस्य तदा दासतां यान्ति

पूर्व पुण्य निष्फल है (यदि धन नहीं), क्योंकि पूर्व पुण्यों के प्रभाव से) अच्छे कुल में भी उत्पन्न हुए और विद्या वाले भी हुए जिसके पास धन है, उसके दास जा बनते हैं ॥

इसलिए धनहीनता भी श्लाघ्य नहीं। धन का पास होना ही श्लाघ्य है । दूसरा कमाने के लिए मनुष्य में स्वाभाविक

रुचि है, क्योंकि कमाई के बिना उस का निर्वाह हो ही नहीं सकता, और बढ़ने की इच्छा भी मनुष्य में स्वाभाविक है, वह रोकी जा नहीं सकती, अतएव जिन आचार्यों ने निरा वैराग्य का उपदेश दिया है, उन के अनुयायी भी उन उपदेशों के हिरुद्ध धन ऐश्वर्य की वृद्धि में ही दिन रात लगे हुए दिखलाई देते हैं, इस लिए धर्म का सच्चा मार्ग वही है, जो मनुष्य को उस की प्रकृति के अनुसार उन्नति के मार्ग पर डाले। इस विषय में आर्यजाति का प्राचीन धर्म ठीक ऐसा ही उपदेश देता है ॥

विश्वो देवस्यनेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्याति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे ॥

(ऋग्० ५ । ५० । १)

हर एक मनुष्य को चाहिये, कि मार्ग दिखलाने वाले देव (परमात्मा) की मित्रता को स्वीकार करे, तब धन ऐश्वर्य के लिए धनुष धारण करे (अर्थात् एक वीर की भांति अपने भुजबल से कमाए, न कि दूसरों की कमाई खाए) और पुष्टि के लिए धन को स्वीकार करे।

इस मन्त्र में सब से पहली बात यह बतलाई है, कि जिस भगवान् ने धर्म का सीधा मार्ग दिखलाया है, पहले उस से मैत्री उत्पन्न करो, तब ऐश्वर्य की ओर पैर उठाओ । जो ऐश्वर्य पाने से पहले ईश्वर से प्रेम सीखते हैं, उन की ओर ऐश्वर्य अपने आप दौड़ता चला आता है, दूसरा ऐश्वर्य उन को मद नहीं चढ़ाता, किन्तु और भी अधिक विनीत बना देता है ॥

**अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् (ऋ० १ । १ । ३)**

(मनुष्य) अग्नि के साथ धन का उपभोग करे, जो दिन पर दिन पुष्टिकारक ही हो, यश से युक्त हो और सब से बढ़े हुए वीर पुरुषों से युक्त हो ।

इस मन्त्र में ये नियम बतलाए हैं-धन का उपभोग करो, न कि धन कमाने की कला बन कर औरों के लिए संग्रह करते रहो ।

" अग्नि के साथ " अर्थात् यज्ञ करते हुए उपभोग करो । धन को कमा कर धर्मकार्यों में लगाओ और उपभोग करो ।

" जो दिन पर दिन पुष्टिकारक ही हो " धन पुष्टि का हेतु है, पर धन पाकर जो लोग विषयी वा आलसी हो जाते हैं, धन उनकी दुर्बलता का हेतु बन जाता है । इस लिए कहा है कि ' पुष्टिकारक ही हो ' । धन पाकर सावधान बने रहो, न हो, कि विषयसेवा वा आलस्य तुम्हारे अन्दर आ प्रवेश करे । वह पुरुष जो अग्नि के साथ धन का उपभोग करता है, वह विषयसेवा वा आलस्य में नहीं पड़ता, अतएव उस के लिए धन सदा पुष्टिकारक ही होता है -

" यश से युक्त हो " कई लोगों के लिए धन अपयश का कारण भी हुआ है, पर जो धन धर्मकार्यों में व्यय किया जाता है, वह धन परलोक में तो फलदायक होता ही है, लोक में भी यश का हेतु होता है ।

"सब से बढ़े हुए वीर पुरुषों से युक्त हो" कई लोग धन ऐश्वर्य पाकर आलसी और कायर बन जाते हैं। वे जो धन कमाते हैं, पर उस की रक्षा नहीं कर सकते, उन का धन उन के लिए विपद् है। जो स्वयं वीर नहीं और वीरपुरुषों से युक्त नहीं, वह मधुमक्खियों के मधु की नाईं जोड़ २ कर मर रहता है, बहुत कुछ जुड़ जाता है, तो दूसरे आकर डाका मार कर ले जाते हैं । सो तुम इस विषय में सदा सावधान रहो, कि तुम्हारा धन ऐश्वर्य बढ़ने के साथ तुम्हारी वीरता भी बढ़े। तुम स्वयं शूरवीर बनो, तुम्हारे भाई शूरवीर हों, तुम्हारे पुत्र शूरवीर हों और तुम्हारे सेवक भी शूरवीर हों। धन यदि तुम ने वीर बन कर पाया है, तो धन पाकर वीरवत्तम बनो, ऐसे वीर बनो कि वीरता में दूसरे तुम्हारी बराबरी न कर सकें, और तुम अपने ऐश्वर्य और मान की आप रक्षा कर सको।

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः।
तुविद्युम्न यशस्वतः (ऋ० १।९।६)

हे प्रभूत धन वाले इन्द्र! हम जो उद्योगशील और यशस्वी हैं, उन को आप धन ऐश्वर्य के लिए यथोचित कर्म में आगे बढ़ाएं।

'उद्योगशील' वह धन जो दबा हुआ मिला है, वा दायाद्य में मिला है, वह मनुष्य के मानसिक महत्त्व को नहीं बढ़ाता, धन वही श्लाघनीय है, जो उद्योगशील बन कर स्वयं अपने भुजबल से कमाया है, इसलिए धन के भोगने का पहला

नियम यह है, कि अपनी कमाई खाओ। 'यश वाले' दूसरा नियम यह है, कि दूसरों पर अत्याचार करके गुह्य, (रिश्वत) लेकर, छल कपट करके, व्यवहार में धोखा देकर, चाटूक्तियां कह कर, इत्यादि अपयश दिलाने वाले कर्म से अपनी कमाई में एक पाई न मिलाओ, किन्तु सन्मार्ग पर चलते हुए यशस्वी बन कर कमाओ अर्थात् धन के साथ यश भी कमाओ, अपयश नहीं ।

'यथोचित कर्म में हमें आगे बढ़ाओ' परमात्मा से हमें यही मांगना चाहिये, कि वे धन ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए हमें ऐसे मार्ग पर डालें, जिस से धनी होते हुए यशस्वी तेजस्वी और वीर्यवान् हों ।

धन हमारे किस काम आए और हमारे अन्दर कितना बल उत्पन्न करे, यह विषय इन दो मन्त्रों में पूरा स्पष्ट कर दिया है—

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूयते भर ॥१॥
नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै ।
त्वोतासो न्यर्वता ।२। (ऋ० १ । ८१-२)

हे इन्द्र ! हमारी रक्षा के लिए धन लाओ (दो), जिस को हम बांट कर भोगें, जिस से हमारा जगत् में सदा बोल बाला रहे, जिस से सदा उत्साह और साहस से भरे रहें और जो धन पीढ़ी पर पीढ़ी टिका रहे (हमारी सन्तति में भी उस की

रक्षा और बढ़ाने की शक्ति बनी रहे) ॥१॥ जिस से हम (इतने बलवान् हों, कि) मुक्के मार २ कर शत्रुओं को निकाल दें, और घोड़ों पर सवार हो कर निकाल दें ॥ २ ॥

धन केवल जोड़ रखने के लिए नहीं, किन्तु भोगने के लिए हो और अकेला भोगने के लिए नहीं, किन्तु बांट कर भोगने के लिए हो। धन पाकर अपने शरीर को ऐसा पुष्ट करो, कि शत्रु तुम्हारे मुक्कों के सामने भी न ठहर सकें, और घोड़े पर चढ़ कर तो तुम दलों के मुंह मोड़ दो। तुम्हारे अन्दर सदा उत्साह और साहस भरा रहे, जिस से कि तुम कभी किसी से पराजित न हो, किन्तु सदा विजयशील बने रहो। धन स्वतः कोई बड़ा बल नहीं, वह इन बातों के उत्पन्न करने का साधन है। यदि तुम इसे इन गुणों का साधन बनाते हो, तो तुम उस से पूरा लाभ उठाओगे, और इन गुणों से खिचा हुआ धन बराबर आता रहेगा। सावधान रहो, जो इस को साधन न बना कर अपने और अपनी सन्तान के बल को नहीं बढ़ाता, धन उस के पास टिका नहीं रहता।

धर्मशास्त्रों में कमाई और उस को बर्तने के नियम इस प्रकार स्पष्ट किये हैं—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम्।
योऽर्थे शुचि र्हि स शुचिर्नमृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनु० ५। १०६)

सारी पवित्रताओं में से कमाई की पवित्रता सब से उत्तम मानी है, जो कमाई में पवित्र है, वह पवित्र है, मट्टी

और जल से पवित्र पवित्र नहीं ॥ कमाई की पवित्रता यही है, कि पाप की एक कौड़ी भी कमाई के अन्दर न मिले—

अकृत्वा परसंताप मगत्वा खलनम्रताम् ।
असंत्यज्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पं तद्बै बहु ॥

किसी को संताप न देकर, नीचों के आगे सिर न निवा कर और भलों के मार्ग को न त्याग कर जो थोड़ा भी है, वही बहुत है ॥

पहला नियम यह है, कि किसी को संताप देकर न कमाओ। किसी का स्वत्व न दबाओ, इस से उस का हृदय संतप्त होता है, किसी को धोखा देकर अपना अर्थ न साधो, इस से उस का हृदय संतप्त होगा। जो साहुकार अपना रुपया निकालने के लिए किसी वरी हुई असामी की ओर दूसरे को झूठी आशाएं दिला कर फंसा देता है, किसी डूबते हुए बैंक आदि के हिस्से वेच देता है, अपने पास आया खोटा रुपया खोटा जान कर आगे चला देता है, किसी से उधार लेकर नहीं देता है, इत्यादि सभी ढंग दूसरों को कलपाने वाले हैं, अतएव ये निन्दित हैं ॥

दूसरा नियम यह है, कि अपने भुजबल पर भरोसा रक्खो और मस्तक ऊंचा रख कर कमाओ। भूखे रहो, पर नीच दुर्जनों के आगे दीन वचन कह कर, उन के सामने झुक कर जीविका मिलती हो, तो उसे धिक्कार करो। जो नीचों की सेवा उठा लेते हैं, वह नीचों के सहायक बनते हैं, अतएव

नीचता को फैलाते हैं, उन के अपने भी अन्दर नीचता आ जाती है॥

तीसरा नियम यह है, कि अपनी कमाई में इस बात का ध्यान रक्खो, कि जिस मार्ग से तुम कमाते हो, वह मार्ग धर्मात्माओं से निन्दित तो नहीं। जो जन राजकार्यों में नियुक्त हैं, वे अपने काम का पलटा मासिक रूप में पाते हैं। जब वे गुह्य लेकर किसी का काम करते हैं, चाहे वह गुह्य अर्थी ने अपनी प्रसन्नता से ही क्यों न दी हो, पर वह पाप है, उस का अपना अन्तरात्मा भी उसे पाप मानता है, उसका आत्मा है मरा हुआ, वह इसे धिक्कारता नहीं, वह मरा भी ऐसे पापों के कारण ही है। जब तक तो वह गुह्य लेकर भी न्याय के स्थान अन्याय नहीं करता, तब तक उस के मरे हुए आत्मा में भी कोई न कोई जीवन का लक्षण शेष है। पर यह पाप का अन्न अन्ततः उस को सर्वथा ही लेगलता है, और वह अपना सारा हृदय इस गुह्य पाप को सौंप देता है, वह न्याय के स्थान अन्याय कर देता है, जब गुह्य (रिश्वत) झूठे से मिल जाती है, और कभी २ इसी कारण से कि झूठे से अधिक मिली है। ओह! कितनी हृदय पर मैल जम गई है, कितना अन्धकार छा गया है, कि इतना भी नहीं सूझता, कि मेरे स्वामी ने मुझ पर विश्वास किया, कि यह सच झूठ का निर्णय करेगा। मेरे इस गुण के भरोसे पर ही उसने मुझे उच्च पद दिया और पद के योग्य मुझे मासिक भी दिया। अब जब उस विश्वास को सच्चा कर दिखलाने का समय आया, तो मैं यह क्या कर रहा हूं, कि मैं अर्थी को न्याय दिलाता नहीं, किन्तु उस के पास बेचता

हूं, और फिर बेच कर भी उसे देता नहीं, प्रत्युत उलटा दण्ड देता हूं, और जो दण्डनीय है, उस को छोड़ भी देता हूं, और दूसरे का न्याय उस की जेब में डालता हूं केवल इसी लिए कि उसने मेरी जेब भर दी है। ध्यान करो, ऐसे कर्मचारियों के हृदय कितने महामलीन हैं। उन के हृदय की यह दशा असन्मार्ग पर चलने से हुई है। यदि वे पहले ही असन्मार्ग पर पाओं न रखते, तो उन के हृदय शुद्ध पवित्र बने रहते। सो इस प्रकार कमाने में इन नियमों पर ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि--

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

वृत्त (सदाचार) की यत्न से रक्षा करे, वित्त (धन) तो आता है और जाता है। वित्त से क्षीण हुआ कोई क्षीण नहीं, पर वृत्त से हीन हुआ तो मरा हुआ ही है।

यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि धन सुख का साधन है और धर्म का भी साधन है, इस लिए उपादेय है। सो इस पर इतना लट्टू नहीं होना चाहिये, कि इस के उपार्जन में ऐसा लग जाय, कि अपना सुख भी उस पर वार दे और पास आए धन को हवा न लगाए। क्योंकि—

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जन मिच्छति।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव भाजनम्॥

अपने सुख को रोक कर जो धन कमाता है, वह दूसरे

के लिए बोझ ढोने वाले पशु के तुल्य क्लेश का ही भाजन है॥

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥

दान और उपभोग से हीन धन से वे यदि धन के स्वामी कहे जा सकते हैं, तो फिर उसी धन से हम भी धन के स्वामी क्यों नहीं॥ (स्वामी होने का इतना ही तो भेद है, कि स्वामी ही उस को वर्तता है, दूसरा नहीं । पर जो कृपण है, वह तो बर्तता है नहीं, सो न बर्तने वाला स्वामी जैसा वह है, वैसे ही दूसरे भी हैं)। कमाने में एक और बात अधिक ध्यान देने योग्य है, वह यह, कि लोग प्रायः ऐसी जीविकाओं को निकृष्ट समझते हैं, जिन में शारीरिक श्रम करना पड़े, और उन को उत्कृष्ट मानते हैं, जिन में शारीरिक श्रम न करना पड़े। पर धर्म की दृष्टि से जो शुद्ध जीविका है, वही उत्कृष्ट और जो अशुद्ध है, वही निकृष्ट मानी जाती है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषि मित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः (ऋग् १०।३४।१३)

जुआ मत खेल, खेती कर, इस प्रकार जो भोग और ऐश्वर्य मिले उसी को बहुत मानता हुआ उसी में आनन्द मना।

यहां खेती उपलक्षण है हर एक शुद्ध जीविका का। लोक में बहुतेरी जीविकाएं ऐसी हैं, जिन में यदि पाप की कमाई न मिलाई जाए, तो शुद्ध हैं। पर उन में से बहुतेरी ऐसी भी हैं, कि जो

स्वयं शुद्ध होती हुई भी पापियों के पाप के आधार पर खड़ी हैं। लोक में यदि चोरी डकैती ठगी सीनाजोरी छीन झपट छल कपट झूठ पाखण्ड आदि पाप दूर होजायँ, तो न पुलीस की जरूरत रहे, न कचहरियों की, न जजों की और न वकीलों की। ये व्यवसाय सब बंद होजायँ, पर खेती की ज़रूरत कभी बंद नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में कदाचित् इन सब को भी अधिक नहीं, तो अपने परिवार के लिए खेती अवश्य करनी ही पड़े। इस लिए धर्म की दृष्टि से जो शुद्ध कमाई है, वह सभी श्लाघनीय है। सो धनी होकर अपने हाथों से काम करने में अपना अपमान मत समझो। यदि धन से धन कमाने में प्रतिष्ठा है और यदि बुद्धि से धन कमाने में प्रतिष्ठा है, तो शरीर से धन कमाने में भी अप्रतिष्ठा नहीं माननी चाहिये। इस कमाई का अंश भी अपनी कमाई में डालते रहने से तुम्हरा शारीरिक बल भी बना रहेगा और सन्तान की भी वृद्धि होती रहेगी।

दान

अपनी कमाई में से यथाशक्ति दान देना हर एक पुरुष का कर्तव्य है। पूर्व पञ्च महायज्ञों में देव पितर असहाय और अतिथियों की जो हव्य और अन्न आदि से पूजा कही है, वह भी दान है। इन से अतिरिक्त भी दान के बहुत से अवसर होते हैं, उन पर दान देना चाहिये। भगवान् वेद का आदेश है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोपद-

स्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते (ऋ० १०। ११७। १)

इधर देवताओंने भूख को ही मृत्यु नहीं बनाया, तृप्त होकर खाने वाले को भी मृत्यु आपकड़ती है, उधर देने वाले का धन खुट्ट (चूक) नहीं जाता (इस लिए अपनी कमाई में से थोड़ा बहुत जितना बन पड़े दान अवश्य करना चाहिये) जो दान से मुंह फेरता है, वह भी अपने लिए सहायक नहीं पाता है (जगत् में उसी को सहायता मिलती है जो दूसरों को सहायता देता है)।

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे । स्थिरं मनः कुरुते सेवते पुरोतोचित् स मर्डितारं न विन्दते । २ ।

वह, जो अन्नवान् होकर, रोटी की कामना से शरण में आए दीन, अनाथ और दुखिये (विपद् ग्रस्त) के लिए अपना मन कड़ा कर लेता है, और उस के सामने स्वयं भोगों का सेवन करता है, वह भी अपने लिए सहायक नहीं पाता है।

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय । अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् । ३ ।

उदार वही है, जो दुर्बल हो घूमते हुए अन्नार्थी पात्र को अन्न देता है। ऐसे पुरुष को युद्ध के बुलावों में सफलता मिलती है और विरोधियों में मित्र मिलते हैं।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्। ४।

वह मित्र नहीं, जो साथ देने वाले हिले मिले मित्र को (सहायता के समय) सहायता नहीं देता है। ऐसे पुरुष से वह मित्र अलग हो जायगा, क्योंकि वह अब उस का ठिकाना नहीं रहा, यह किसी दूसरे सहायता देने वाले को ढूंढेगा, चाहे वह पराया हो।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपातिष्ठन्त रायः। ५।

धनाढ्य को चाहिये, कि अर्थी याचक को यथाशक्ति अवश्य देवे और अपनी दृष्टि बड़े लम्बे मार्ग पर रक्खे, क्योंकि धन रथ के पहिये की तरह घूमते हैं, आज एक के पास हैं, तो कल दूसरे के पास जाते हैं।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध

इत्सतस्य । नार्यम्णं पुष्यति नो सखायं केव-
लाघो भवते केवलादी । ६ ।

वह मूर्ख अन्न को व्यर्थ लाभ करता है, मैं सत्य कहता हूं, वह तो उस का नाश ही है, जो न ईश्वर के माग पर लगाता है, न ही मित्र को सहायता देता है, अकेला खाने वाला निरा पापी बनता है ॥

इन मन्त्रों में बतलाया है, कि कमाई वही सफल है, जो इष्ट मित्रों, बन्धु वान्धवों में बाँट कर खाई जाय, और दीन अनाथ असहाय और दुखियों को सहायता दी जाय।

धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्त मिहामुत्र च मोदते ॥

धर्म के लिए, यश के लिए, धन के लिए, अपने लिए और अपने जनों के लिए, इस प्रकार अपने धन को पांच विभागों में विभक्त करने वाला इस लोक और परलोक दोनों में आनन्द मनाता है ।

अपनी कमाई के पांच विभाग करके एक भाग धर्म के लिए रखना चाहिये, दूसरा यश के लिए । धर्म से यश का इस लिए भेद किया है, कि लोक में यश के लिए तुम जो दान देते हो, वह तुम्हारी उदारता को प्रकट करता है, पर वह धर्मदान नहीं, धर्मदान वा ईश्वरप्रीत्यर्थ दान तुम्हारा वही होगा, जो तुम्हारा दायां हाथ दान दे और बायें को खबर न

हो। इसी लिए हमारे बड़ों में गुप्तदान की रीति थी। वे दान से अपना नाम नहीं चाहते थे। अतएव उन्होंने यज्ञ दान और तप के विषय में ये नियम बतलाए थे—

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम्।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान् न दत्वा परिकीर्तयेत्॥
यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात्॥

(मनु ४। २३६--२३७)

तप करके आश्चर्य न हो, (कि कैसा दुष्कर तप मैंने तपा है) यज्ञ करके झूठ न बोले, पीडित हुआ भी ब्राह्मणों की निन्दा न करे और दान देकर बतलाए नहीं। २३६। झूठ बोलने से यज्ञ, आश्चर्य माननें से तप, ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और घोषणा करने से दान झर जाता है। २३७। हां यश के जो काम हैं, उन के लिए अलग भाग रक्खो और उसी को यश के कार्यों में खर्च करो। यश भी उत्तम वस्तु है, पर यश की कामना से ऊपर रहना उत्तमोत्तम है।

तीसरा भाग धन के कमाने के लिए रक्खो, क्योंकि धन की वृद्धि में धन सहायक होता है।

चौथा भाग अपने लिए, जिस में अपना और अपने परिवार का पालन पोषण और शिक्षा आदि का उत्तम प्रबन्ध हो सके।

पांचवां अपने आश्रित जनों के लिए, जिन को सहारा देना तुम्हारा कर्तव्य है ॥

यह पांच भाग बराबर २ करने से अभिप्राय नहीं, किन्तु कमाई में से यथायोग्य ये पांच विभाग होने चाहिये ॥

दान देने में बहुतसी बातों में सावधान रहना चाहिये। उन में से पहली बात यह है, कि दान पहले अपने निकट से आरम्भ होना चाहिये, जो अपनों को भूखे मरने देता है और दूर २ दान बांटता है, उस का दान दानाभास है। जो अपनी जाति के दीन, अनाथ, असहाय, विधवाओं के भूखे मरते हुए कुत्तों कौओं और मछलियों को दान देता है, जैसा कि आज कल बहुतेरे हिन्दु करते हैं, वह दान नहीं दानाभास है। देखो शास्त्र पुकार कर कहता है—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥
भृत्यानामुपरोधेन यत् करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद् भवत्य सुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥

(मनु ११ । ९-१०)

जो समर्थ हुआ अपने जनों के भूखे मरते हुए परायों को दान देता है, उस का वह दान (धर्म नहीं) धर्माभास है, जो दीखता तो शहद है, पर परिणाम विष का रखता है। ९। जिन का भरण पोषण अपना पहला कर्तव्य है, उन को तंग

कर के मनुष्य जो कुछ परलोक के लिए करता है, वह उस के लिए दुःख परिणाम वाला होता है, जीते हुए भी और मर कर भी। १७।

दूसरा नियम यह है, कि दान देश काल और पात्र का ध्यान रख कर देना चाहिये। दान जैसे योग्य पात्र को योग्य देश और काल में दिया जायगा, उतना ही बड़ा उस का फल होगा। जैसा कि भगवान् कृष्ण का उपदेश है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः२०
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम्।२१।
अदेशकाले यद् दान मपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्। २२।

(गीता १७। २०-२२)

जो दान देश काल और पात्र का विचार करके, "देना है" इस भावना से दिया जाता है, और उपकार के पलटे में वा प्रत्युपकार की इच्छा से नहीं दिया जाता है, वह दान सात्विक कहलाता है। २०। और जो प्रत्युपकार के अर्थ अथवा फल की इच्छा रख कर वा (मन से) तंग हो कर दिया जाता है, वह दान राजस माना गया है। २१। और जो दान अयोग्य देश में अयोग्य काल में और अयोग्य पात्रों

का दिया जाता है और अनादर वा अपमान से दिया जाता है, वह दान तामस कहलाता है। दान के उक्त तीन भेद दिखलाने का प्रयोजन स्पष्ट है, कि तामस और राजस दान का त्याग करे और सदा उन नियमों का पालन करे, जिस से दान सात्विक हो, सात्विक दान ही धर्मदान है।

सो दान देने में प्रधानतया ये बातें ध्यान रखने योग्य हैं, (१) शुद्ध भावना से आदर सत्कार पूर्वक दान देवे। (२) दान देश काल के योग्य हो। मरुभूमि में बावड़ी लगवाना और गर्मियों में प्याऊ लगवाना देश काल के योग्य दान है। (३) दान के पात्र तीन प्रकार के होते हैं। दया के पात्र, सहायता के पात्र और पूजा के पात्र। दीन अनाथ आदि, जिन के पास अपनी रक्षा का सामर्थ्य नहीं, दया के पात्र होते हैं। धन से सम्पन्न भी, यात्रा में रोग में वा किसी ऐसे ही अन्य अवसर पर, सहायता के पात्र होते हैं। विद्या और धर्म आदि के प्रचार में तत्पर ब्राह्मण आदि पूजा के पात्र हैं। (४) पात्र जिस वस्तु से अर्थी है, वही वस्तु दान के लिये उत्तम वस्तु है।

भावना।

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्॥
(मनु० ४। २२४)

तान् प्रजापतिराहैत्य माकृध्वं विषमं समम्।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्॥२२५॥

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥२२६॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्यशक्तितः ॥२२७॥

एक ओर तो वेदपाठी हो, पर हो कंजूस, दूसरी ओर हो ब्याजड़िया (ब्याज से जीविका करने वाला), पर हो वदान्य (दान देने में श्रद्धा भावना वाला उदार हृदय) इन दोनों के अन्न को देवताओं ने विचार कर एक समान माना।२२४। पर प्रजापति ने आकर उन्हें बतलाया कि मत विषम को सम ठहराओ, क्योंकि वदान्य का अन्न तो श्रद्धा से पवित्र हुआ हुआ है और दूसरा अन्न अश्रद्धा से हत (दूषित) है।२२५। सो मनुष्य को चाहिये, कि सदा आलस्य को त्याग कर श्रद्धा के साथ इष्ट और पूर्त कर्म करे, क्योंकि धर्म की कमाई से श्रद्धा के साथ किये ये दोनों अक्षय फल वाले होते हैं। २२६। पात्र को पाकर सदा प्रसन्न हृदय के साथ इष्ट और पूर्त दानों का सेवन करे। २२७।

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति।
तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥२३४॥
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥२३५॥

जिस २ भावना (श्रद्धा और कामना) से जो २ दान देता है, उस उसी भावना से वह आदर मान के साथ (जन्मान्तर में) उस २ को प्राप्त होता है ।२३४। जो आदर से देता है और आदर से लेता है, वे दोनों स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, उलटा करने में नरक को ॥ २३५ ॥

देशकाल ।

देश काल के विचार हर एक दान में आवश्यक हैं,पर इष्ट कर्मों में तो देश काल का नियम शास्त्र में कहा है । पूर्त (सार्वजनिक) कर्मों में देश काल का विचार स्वयं करना होता है, पूर्त कर्म इस प्रकार के हैं–

वापी कूप तडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

बावड़ियें, कुंएं, तालाब आदि लगवाना, देवताओं के आयतन, अन्न देना और बगीचे लगवाना यह पूर्त कर्म कहलाते हैं ।

बावड़ी आदि लगवाना धर्म है, पर जिस देश वा जिस काल में इन की आवश्यकता है, वहीं लगवाना धर्म है, अन्यत्र नहीं। मरुभूमि में जहां यात्रियों को जल का कष्ट होता हो, वहां बावड़ी धर्म है । इसी प्रकार पर्वतों में फूटने वाले स्रोतों पर बावड़ी बनवाना धर्म है । जहां लोगों की बस्ती में कुंआ नहीं, वहां कुंआं लगवाना धर्म है । जहां लोगों के स्नान आदि और पशुओं के पान आदि के लिए तालाब नहीं, वहां तालाब

लगवाना धर्म है । पर एक तालाब के पास दूसरा तालाब इस लिए लगवाना कि मेरा नाम कहीं पीछे न रह जाय, कोई धर्म नहीं। गर्मियों में प्याऊ लगाना वा लगवाना धर्म है । मेलों में प्याऊ लगवाना धर्म है । विद्यालय स्थापन करना धर्म है । जिस देश और जिस काल में जैसी विद्या वा जो शिल्पकला सिखलाने की आवश्यकता है, उस २ विद्या शिल्प और कला के शिक्षणालय खोलना धर्म है । सन्ध्या वन्दनादि पूजा पाठ के लिए देवमन्दिर बनवाना धर्म है । जहाँ ऐसे मन्दिरों का अभाव है, वहां ऐसे मन्दिर बनवा कर लोगों की धार्मिक आवश्यकता को पूरा करना चाहिये । पर जहां सन्ध्यावन्दनादि का तो नाम न हो, पर मेरा नाम पीछे न रहे, इस लिए मन्दिर के साथ मन्दिर बनवाते जाना कोई धर्म नहीं ।

पात्र ।

दीन अनाथ दरिद्र असहायों को अन्न देना धर्म है, पर धनियों को नहीं ।

दरिद्रान् भर कौन्तेय माप्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥

कंगालों का पोषण कर हे युधिष्ठिर ! समर्थ को धन मत दे । रोगी को औषध पथ्य है, नीरोग को औषधों से क्या प्रयोजन ।

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं यथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ॥

हे पाण्डु पुत्र ! मरुस्थल में जैसे वृष्टि, भूखे को जैसे भोजन (सफल है) वैसे दरिद्र को दिया दान सफल होता है ॥

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः । यस्यार्थिनो वा शरणागता वा नाशाविभिन्ना विमुखाः प्रयान्ति ॥

मनुष्यों में वही एक श्लाघनीय है, वह उत्तम है, वह सत्पुष है, वह धन्य है, जिस के पास आए अर्थी वा शरणागत निराश हुए उलटे मुख नहीं जाते।

सहायता के पात्र अपने २ अवसर पर सभी होते हैं।

एक धनवान् दान का पात्र नहीं, पर जब वह रोगग्रस्त है, तो सहायता का पात्र है । उस के पास पैसे बहुत हैं, तो उसी के पैसों से भी दवा ला देना उस की सहायता है। वैद्य को बुला लाना वा और कोई सेवा करना उस की सहायता है। जीविकार्थी को जीविका दिलाना और विद्यार्थी को विद्या पढ़ाना उस की सहायता है । भूले हुए को मार्ग दिखलाना उस की सहायया है। दुःखों से बचाने वा सुखों की वृद्धि के उपाय सिखलाना वा साधन ढूंढ निकालना दूसरों की सहायता है । सहायता देने के अवसर सब के सामने आते हैं। उन पर चूकना नहीं चाहिये । जो किसी को सहायता नहीं देता, उस का जीना व्यर्थ ही है। उस से तो—

जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् । यत् सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥

नदी के किनारे उत्पन्न हुए उस घास के तिनके का भी जन्म सफल है, जो पानी में डूबने से व्याकुल हुए मनुष्य के हाथ पकड़ने का सहारा बनता है॥ जातियें परस्पर की सहायता से ही बढ़ा करती हैं—

अन्योऽन्यमुपष्टम्भादन्योऽन्योपाश्रयेण च ।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥

(महा भा० उद्योग० ३६ । ६५)

एक दूसरे को थामने से और एक दूसरे का सहारा पाने से जातियें बढ़ा करती हैं, जैसे सरोवर में कमल॥ जो दूसरों को सहायता देता है, उस के साथी बढ़ते हैं, और समय पर उस के सभी सहायक होते हैं ।

सहायता मनुष्य धन से, बल से, बुद्धि से, विद्या से, शिल्प से, निदान जो कुछ अपने पास हो उस सब से, कर सकता है, पर जो सहायता वा सेवा मनुष्यजाति की विद्या दान से वा धर्मदान से हो सकती है, उस के बराबर और कोई सहायता नहीं ।

पूजा के पात्र ब्राह्मण इसी लिए हैं, कि ऊपर कही दोनों सेवाएं मनुष्यजाति की ब्राह्मण करते हैं, और निष्काम-भाव से करते हैं । अतएव कहा है—

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्कं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा । इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे

पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (अथर्व ११।१।२८)

यह मेरा सुवर्ण जिस की चमक एकरस है, और क्षेत्र से मिला यह पका हुआ अनाज और फल और यह मेरी कामदुघा (कामनाओं के पूरने वाली–दूध, दही, मलाई, मक्खन देने वाली) गौ है, यह धन मैं ब्राह्मणों में स्थापन करता हूं, और मैं (अपने लिए) वह मार्ग बनाता हूं, जो पितरों में स्वर्ग नाम से प्रसिद्ध है॥

इदमोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्ग्यम्। स मे माक्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥

(अथर्व ४।३४।८)

मैं इस ओदन को ब्राह्मणों में स्थापन करता हूं, यह कई गुणा अधिक हो कर फलेगा, इससे मेरा परलोक सुधरेगा, यह मेरे स्वर्ग का साधन है। यह ओदन अपनी शक्ति से रसीला होता हुआ मेरे घर से कभी क्षीण न हो, और अनेक रूपों वाली धेनु मेरी कामनाओं के पूरने वाली हो।

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽवपश्यते॥१९॥
गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।

तत् सर्वं मनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥२०॥
(अथर्व ९।४)

जो ब्राह्मणों को ऋषभ (गौओं के लिए साण्ड वा खेती के लिए बैल) देता है, वह अपने मन को श्रेष्ठ बनाता है, वह अपने गोष्ठ में गौओं की पुष्टि देखता है ॥ १९ ॥ उस के घर पशु हों, पुत्र हों, और शरीर का बल हो। हे देवताओ! यह सब उस के लिए स्वीकार करो, जो ऋषभ देता है।

वेद में दान के विषय में दानी की उच्च कामना यह दिखलाई है—

ब्राह्मणमद्य विदेय पितृमन्तं पैतृमत्यमृषि-मार्षेयꣳसुधातुदक्षिणम्। अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत (यजु० ७।४६)

मैं आज ऐसे ब्राह्मण को पाऊं, जो विख्यात पिता का पुत्र और विख्यात पितामह आदि का पौत्र प्रपौत्र हो, जो स्वयं ऋषि हो, और ऋषियों का वंशज हो, जिस की दक्षिणा उत्तम धातु (सुवर्ण) है। हे हम से दी दक्षिणाओ! तुम देवताओं में पहुंचो और (आगे देते रहने के लिए) दाता के (घर में) प्रवेश करती रहो।

पर स्मरण रहे, कि ब्राह्मण इस लिए दान का पात्र है, कि वह निष्कामभाव से धर्म का प्रचार करता है। यह वह स्वयं दान करता है, जो सब से बड़ा दान है।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासास्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥

(मनु ४ । २३३)

जल, अन्न, गौ, भूमि, तिल, सोना, घी इत्यादि जितने भी दान हैं, उन सारे दानों में से वेद का दान (वैदिक धर्म की शिक्षा देना और विधर्मियों को वेद मार्ग पर लाना) सब से बढ़ कर है ॥

सो दूसरों को धर्म का दान देने वाला धर्माचार्य ब्राह्मण सब की पूजा का पात्र है। पर जो स्वयं पूजा का पात्र न बन कर दान का पात्र बनना चाहता है, उस को दिया दान किसी का कल्याण नहीं करता, दोनों को डुबाता है, अतएव कहा है--

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥

(मनु ४ । १९०)

जो ब्राह्मण न तपस्वी है, न वेदाभ्यास में तत्पर है, पर दान में रुचि वाला है, वह जल में पत्थर की नौका के समान उस (दाता) के साथ ही डूबता है ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥

न्याय से आए धन के दो अतिक्रम जानने चाहिये, एक तो अपात्र को देना और दूसरा पात्र को न देना॥

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

जहां अपूज्यों की पूजा होती है, और पूज्यों की पूजा नहीं होती, वहां दुर्भिक्ष, मौत और भय ये तीन बढ़ जायंगे।

दान की वस्तु वही उत्तम है, जिस से लेने वाले की आवश्यकता पूरी होती हो, पर आवश्यकता वही समझनी चाहिये, जो जीवन के लिए उपयोगी है। अन्न, वस्त्र, जल, गौ, भूमि इत्यादि सब उपयोगी वस्तुएं हैं। पर जैसे आज कल कई नाममात्र के साधु चर्स पीते हैं, वह जीवन के लिए अनावश्यक ही नहीं, किन्तु हानिकारक है। ऐसी वस्तुओं का दान वा ऐसी वस्तुओं के लिए कुछ पैसे देना दान नहीं, कुदान है, जिस का फल सुख नहीं, दुःख है। स्मृतियों में जो भिन्न २ वस्तुओं के दान देने के अलग २ फल बतलाए हैं, उन में सभी उपयोगी वस्तुओं का ही वर्णन है, चर्स आदि हानिकर वस्तुओं का कहीं नाम नहीं।

दान का फल लोक में भी होता है और परलोक में भी होता है। लौकिक फल जैसा कि पूर्व दिखला चुके हैं, कि जो औरों को सहायता देता है, उस के भी सहायक बढ़ते हैं। पारलौकिक फल जैसे—

यत् दत्तं यत् परादानं यत् पूर्तं याश्च दक्षिणाः।

तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥

(यजु १८ । ६४)

जो हमने कर्तव्यबुद्धि से दिया है (अपना धर्म जान पुत्र कन्या आदि के भरण पोषण और शिक्षा आदि में लगाया धन) और जो परादान है (अपनी कोई कामना न रख कर परोपकारबुद्धि से दे डाला धन) और जो पूर्त है (स्वयं स्थापित किये शिक्षणालय अनाथालय आदि वा उनमें दिया धन है) और जो (यज्ञों की) दक्षिणाएं हैं, इन सब को सारे कर्मों का फलदाता अग्नि स्वर्ग में देवताओं में स्थापन करे। अर्थात् ये सब परलोक में हमारे लिए फलें) भगवान् मनु लिखते हैं—

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्र मासाद्य शक्तितः ॥

(मनु ४ । २२७)

यत् किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनान सूयया ।
उत्पत्स्यते हि तत् पात्रं यत् तारयाति सर्वतः २२८

पात्र को पाकर इष्ट और पूर्त सम्बन्धी दानधर्म शक्ति अनुसार प्रसन्न हृदय से सदा सेवन करे। २२७। जब उस से मांगा जाय,तो बिना असूया जो कुछ बने देवे,क्योंकि कोई ऐसा भी पात्र आ ही जायगा, जो सब ओर से तार देगा। २२८ ।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षु रुत्तमम् ।२२९।
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायु र्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूप मुत्तमम् ॥
वासोदश्चन्द्रसालोक्य माश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्॥
सर्वेषामेवदानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमही वासस्तिलकाञ्चन सर्पिषाम् २३३

जल देने वाला तृप्त को प्राप्त होता है, अन्न देने वाला अक्षय सुख को, तिल देने वाला योग्य सन्तान को दीप देने वाला उत्तम नेत्र को । २२९ । भूमि देने वाला भूमि को, सुवर्ण देने वाला दीर्घ आयु को घर देने वाला उत्तम घरों को और चांदी देने वाला उत्तम रूप को प्राप्त होता है । २३० । वस्त्र देने वाला चन्द्र के लोक को, घोड़ा देने वाला अश्वियों के लोक को, बैल देने वाला बहुत बड़ी लक्ष्मी को और गौ देने वाला सूर्य के लोक को प्राप्त होता है । २३१ । यान और शय्या देने वाला पत्नी को, अभय देने वाला ऐश्वर्य को, अनाज देने वाला सदा के सुख को और वेद देने वाला (वेद पढ़ाने वाला, वेद का प्रचार करने वाला और वैदिक धर्म में लाने वाला)

ब्रह्म की समानता को प्राप्त होता है । २३२ । जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना और घी इत्यादि जितने भी दान हैं, इन सब से ही बढ़ कर एक दान है, वह वेद का दान है । (वेद का पढ़ाना, वेद का प्रचार करना, वैदिक धर्म में प्रवेश कराना, मनुष्य जाति के कल्याण के लिए इस दान के बराबर और कोई दान नहीं है)

आचार व्यवहार

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ (मनु १ । १०८)

श्रुति स्मृति में बतलाया आचार परम धर्म है, इस लिए आत्मबल के रखने वाले द्विज को सदा इस में सावधान रहना चाहिये ।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेणतु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् १०९

आचार से गिरा हुआ ब्राह्मण वेद पढ़ने का फल नहीं पाता, जो आचार से युक्त है, वही वेद पढ़ने के सम्पूर्ण फल का भागी होता है ।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् । ११० ।

इस प्रकार मुनिजनों ने धर्म की नोंव को आचार के सहारे देख कर तप का उत्तम मूल जान आचार को ग्रहण किया ।

श्रुति स्मृत्युक्तं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचार मतान्द्रितः ॥
(मनु ४ । १५५)

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्य माचारो हन्त्यलक्षणम् १५६
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःख भागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च १५७
सर्वलक्षण हीनोपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ।१५८।

वह सदाचार जो अपने कर्मों (काम धन्धों) के साथ सम्बन्ध रखता है और श्रुति स्मृति में स्पष्ट बतलाया गया है, वह धर्म का मूल है, उस का अनथक होकर सेवन करे। १५५। आचार से मनुष्य दीर्घ आयु पाता है, आचार से अच्छी संतान और अनखुट्ट धन पाता है । आचार मनुष्य के कुलक्षण को नष्ट कर देता है । १५६ । दुराचारी पुरुष लोक में निन्दित, सदा दुःख भागी, रोगी और अल्पायु होता है । १५७। जो पुरुष सदाचारी है, श्रद्धा से भरा हुआ है, असूया से रहित है,

वह सौ वर्ष जीता है, चाहे (कायिक) शुभ लक्षणों से रहित भी हो । १५८ ।

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत्सेवेत यत्नतः ।१५९।
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः १६०
यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् । १६१ ।

जो कर्म पराधीन है, उस २ को यत्न से त्यागे और जो २ अपने अधीन है, उस २ को यत्न से सेवन करे । १५९ । क्योंकि पराधीन सब दुःख है और अपने अधीन सब सुख है, यह संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण है । १६० । जिस कर्म के करने से इस के अन्तरात्मा को संतोष हो, उसे प्रयत्न से करे, और विपरीत को छोड़ देवे । १६१ ।

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः

उपनयन करने वाले, वेद का अर्थ बतलाने वाले, पिता, माता, गुरु (बड़े), गौ, ब्राह्मण और तपस्वियों को कभी क्लेश न दे ।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।१७०।
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकानां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् १७१।
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति । १७२ ।
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।१७३।
अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।१७४।

जो पुरुष अधर्म पर चलता है और जिस की कमाई पाप की है और जो सदा हिंसा में रत है, वह यहां सुख से नहीं बढ़ता है। १७० । धर्म से पीड़ित हो कर भी मन को अधर्म में न लगाए, जब कि यह सामने देखता है, कि अधर्म पर चलने वाले पापियों का शीघ्र उलट पलट हो जाता है (लोक में देखा जाता है, कि पाप की कमाई से बढ़ने वालों के दिन जल्दी उलटे हो जाते हैं)। १७१ । अधर्म किया हुआ इस लोक में गौ की तरह जल्दी फल नहीं देता, पर धीरे २ बढ़ता हुआ वह पापियों की जड़ों को काट देता है (गौ गाय

का नाम भी है और पृथिवी का नाम भी है। यहां दोनों अर्थ घट सकते हैं। पृथिवी अर्थ में-जैसे पृथिवी में बोया बीज उसी समय नहीं फलता, कालान्तर में जाकर फलता है, इसी तरह अधर्म भी उसी समय नहीं फलता है। गाय अर्थ में जैसे गौ दोहने से उसी समय पात्र को भर देती है, अधर्म इस तरह तत्क्षण नहीं फलता, किन्तु कालान्तर में फलता है॥ १७२॥ यदि अपने में नहीं, तो पुत्रों में, और यदि पुत्रों में भी नहीं, तो पोतों में जाकर फलता है, पर किया हुआ अधर्म करने वाले का कभी निष्फल नहीं होता है (पाप की कमाई खाली नहीं जाती, ऐसा पुरुष यदि आप न भी बिगड़ा, तो सन्तान वा सन्तान की सन्तान उस की कमाई को उजाड़ेगी और कलंक भी लगाएगी। पाप का पैसा एक न एक दिन रंग दिखलायगा, पचेगा नहीं)॥ १७३॥ अधर्म से पहले बढ़ता है, फिर भद्र देखता है, फिर शत्रुओं को जीतता है, अन्ततः जड़ समेत नष्ट होता है॥ १७४॥

ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञाति सम्बन्धिबान्धवैः॥१७९॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥१८०॥
एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान् गृही॥१

ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, अतिथि, अपने आश्रित जन, बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, ज्ञाति, (शरीक) बान्धव (रिश्तेदार) ॥ १७६ ॥ माता, पिता, जामी (बहिन, स्नुषा आदि) भाई, पुत्र, पत्नी, कन्या और दासवर्ग, इन के साथ झगड़ा न करे ॥ १८० ॥ जो इन के साथ झगड़ा नहीं उठाता, वह सब पापों से बचा रहता है, (अपने भले बर्ताव द्वारा) इन को जीतने से गृहस्थ इन सब लोकों को जीत लेता है ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥
(मनु० २ । ८८)

विद्वान् को चाहिये, कि इन्द्रिय जो कि उन्हें खींच लेने वाले विषयों की ओर भागते हैं, उन के संयम में यत्न करे, जैसे कि सारथि घोड़ों के रोकने में यत्न करता है ।

एकादशेन्द्रियाण्याहुः यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।८९।
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिव्हा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ।९०।
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।९१।

एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ।९२।

पूर्व विद्वानों ने जो ११ इन्द्रिय बतलाये हैं, उन्हें यथा-वत् क्रम से बतलाऊंगा॥ ८९॥ कान, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण (नाक) तथा गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर और दसवीं वाणी कही है॥ ९०॥ इन में से कान आदि पञ्चक को ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पञ्चक को कर्मेन्द्रिय कहते हैं॥ ९१॥ ग्यार-हवां मन को जाना, जो अपने गुण से दोनों शक्तियों वाला है और जिस के जीतने से ये दोनों पञ्चक गण जीते जाते हैं। ९२

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्य संशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।९३

इन्द्रियों में फंस जाने से पुरुष निःसंदेह बिगड़ जाता है, और यही हैं, जिन को वश में करके हर एक काम में सिद्धि पाता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूयएवाभिवर्धते।९४।
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्
प्रापणात् सर्व कामानां परित्यागो विशिष्यते।९५
न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तु मसेवया।

विषयेषुप्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ।९६।
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छान्ति कर्हिचित् ।९७।

विषयों की कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, उलटा घृत से अग्नि की नाईं अधिक ही बढ़ती है ॥ ६४ ॥ जिस की विषयकामनाएं सभी पूर्ण हो जायं, और जो मन से इन का केवल त्याग कर देवे, इन में से सारी कामनाओं की प्राप्ति से त्याग ही अधिक महत्व वाला देखा जाता है ॥ ९५ ॥ इन्द्रिय जो विषयों को प्यार करते हैं, इन को विषयों से परे २ रख कर वैसा नहीं रोका जा सकता, जैसा कि विचार से ॥ ६६ ॥ जिस के मन की भावना दुष्ट है, उस के वेद, दान, यज्ञ, नियम, तप कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥ ६७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यतिग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ।९८।
इन्द्रियाणांतु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्यक्षरतिप्रज्ञा दृतेः पात्रा दिवोदकम् ।९९।
वशेकृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ।१००।

जो पुरुष सुन कर, छू कर, देख कर, खाकर वा सूंघ कर न फूल जाता है, न कुम्हला जाता है, उसे जितेन्द्रिय जानो ॥ ९८॥ पर सारे इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय झर जाती है, तो उससे इसकी प्रज्ञा इस तरह झर जाती है, जैसे चमड़े के पात्र से पानी ॥ ९९ ॥ इन्द्रियगण को और मन को वश में करके शरीर को पीड़ा न देता हुआ उपाय से सारे कार्यों को साधे ॥ १००॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥
(मनु० २ । ११९)

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ।१२०
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् । १२१

श्रेष्ठ (गुरु वा विद्या में बड़ा) जिस आसन पर बैठा हो, उस पर न बैठे, और आप शय्या वा आसन पर बैठा हो, तो उठ कर उसे प्रणाम करे ॥ ११९ ॥ क्योंकि वृद्ध (पूजनीय) के आने पर युवा के प्राण बाहर निकलते से हैं, प्रत्युत्थान और अभिवादन से उन को फिर प्राप्त करता है ॥ १२० ॥ जो बड़ों को अभिवादन करने के स्वभाव वाला है और प्रतिदिन उन के पास उठने बैठने वाला है, उस की आयु, विद्या, यश और बल चारों बढ़ते हैं ॥ १२१ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ।१४४
उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतंपिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।१४५।

जो दोनों कान वेद से यथार्थ भर देता है, उस को माता पिता जाने, उस से कभी द्रोह न करे ॥१४४॥ उपाध्याय से आचार्य दस गुणा, आचार्य से पिता सौ गुणा और पिता से माता सहस्र गुणा बढ़ कर पूजा के योग्य होती है।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्यचेह च शाश्वतम् ।१४६
कामान्मातापिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद् यद्योनावभिजायते।१४७
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्यासाऽजरामरा ॥

जन्मदाता और वेददाता पितरों में से वेददाता पिता बढ़ कर है, क्योंकि वेद का जन्म ब्राह्मण का लोक परलोक दोनों का साधन है ॥ १४६ ॥ कामना से माता पिता जो इस को जन्म देते हैं, यह इस का (दूसरे जीवों की नाईं) जन्म

मात्र है, जो योनि से उत्पत्ति है ॥१४७॥ पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो गायत्री से इसे यथाविधि जन्म देता है, वह सच्चा जन्म है, वह अजर अमर है ॥१४८॥

अल्पं वा वहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ।१४९।
ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्व धर्मस्य च शासिता ।
बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ।१५०

जो जिस का थोड़ा वा बहुत पढ़ाने का उपकार करता है, उसे भी उस पढ़ाने के उपकार के कारण गुरु ही जाने ।१४९ ब्राह्मजन्म (वेद का जन्म) का देने वाला और अपने धर्म का सिखलाने वाला बालक भी ब्राह्मण वृद्ध का धर्म से पिता होता है ।

अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।१५१
तेतमर्थ मपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशु रुक्तवान् ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् १५३
न हायनैर्नपलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् १५४

अंगिरस का पुत्र भृगु बच्चा ही पितरों (चाचे आदि) को पढ़ाता था, तब उस ने उन को पुत्रक (छोटे बच्चो) कहा क्योंकि ज्ञान द्वारा उन को अपना बना चुका था ॥ १५१ ॥ उन को क्रोध आगया और उन्हों ने देवताओं से यह बात पूछी, देवताओं ने सर्वसम्मति से उन्हें यह एक उत्तर दिया, कि बच्चे ने तुम्हें न्याययुक्त कहा है ॥ १५२ ॥ मन्त्र का न जानने वाला बालक होता है और मन्त्र का देने वाला पिता होता है, क्योंकि (ऋषि) अनजान को बालक और वेद देने वाले को सदा पिता कहते आये हैं ॥ १५३ । ऋषियों ने यह मर्यादा बांधी है,कि न वर्षों से,न श्वेत बालों से, न धन से, न बन्धुओं से बड़ा होता है, किन्तु जो सांगोपांग वेद का जानने वाला है, वह हम में बड़ा है ।

ब्राह्मणानां ज्ञानतोज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणांतुवीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेवजन्मतः १५४।
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

ब्राह्मणों की बड़ाई ज्ञान से होती है, क्षत्रियों की वीरता से, वैश्यों की धनधान्य से, जन्म से केवल शूद्रों की ही होती है ।१५५। इस से कोई वृद्ध (पूजनीय) नहीं होता, कि उस का शिर श्वेत हो गया है, जो युवा भी (वेद का) विद्वान् है, उस को देवता वृद्ध जानते हैं ॥ १५६ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
यस्यवाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् । १६० ।
नारुन्तुदः स्यादार्तोपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां ता मुदीरयेत्॥

धर्म पर चलना चाहते हुए उपदेष्टा को चाहिये, कि पुत्रों और शिष्यों का प्रेम के साथ भलाई की शिक्षा देवे, और वाणी सदा मीठी और सभ्य बर्ते ॥ १५६ ।। जिस के मन और बाणी शुद्ध हैं, और सदा सुरक्षित हैं, वह उस सारे फल को प्राप्त होता है, जो वेदान्त में कहा गया है ॥१६०॥ पीड़ित हुआ मर्म को पोड़ा देने वाला न बने (मर्म का पीड़ा देने वाला शब्द न बोले), न किसी के द्रोह का काम करे, न ही मन में ऐसा विचार आने दे, ऐसी बाणी कभी न बोले, जिस से दूसरा तंग आजाय, ऐसी बाणी लोक परलोक दोनों को बिगाड़ती है ॥ १६१ ॥

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदव मानस्य सर्वदा ।१६२।
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखंचरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति १६३

ब्राह्मण संमान से सदा विष की तरह डरे और अपमान को अमृत की तरह सदा चाहे ॥ १६२ ॥ क्योंकि अपमान सह जाने वाला सुख से सोता है, सुख से जागता है और सुख से इस लोक में विचरता है और अपमान करने वाला (आप ही) नष्ट हो जाता है ॥ १६३ ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मण जीविकाम् ॥
(मनु० ४ । ११)

जीविका के लिए किसी तरह की लोकचाल (जमानासाजी) न बर्ते, किन्तु कुटिलता से और बहाने से रहित, शुद्ध, ब्राह्मणजीविका से जिये ।

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखंदुःखमूलं विपर्ययः । १२ ।
वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमांगतिम् ।१४
इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सं निवर्तयेत् ।१६।
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता ।१७

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्य माचरन् विचरे दिह ।१८।

जो सुखी रहना चाहता है, उस (ब्राह्मण) को चाहिये कि संतोष का आश्रय लेकर संयमी रहे, क्योंकि सुख का मूल संतोष है और असंतोष दुःख का मूल है ॥ १२ ॥ वेद में कहा अपना कर्म अनथक हो कर करे, क्योंकि उस को यथाशक्ति करता हुआ परमगति को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ इन्द्रियों के किसी भी विषय में भोग की इच्छा से न फंसे, इन में अति लगाव को मन से हटाये रक्खे ॥ १६ ॥ धन कमाने के वे सारे काम त्याग देवे जो वेदाभ्यास के विरोधी हों, जैसे तैसे पढाने का काम करे, क्योंकि वह इस की कृतकृत्यता है ॥१७॥ अपनी अवस्था, कर्म (पेशा) धन, शास्त्र और कुल के योग्य अपना कुल वेष वाणी और बुद्धि रक्खे ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।१९
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।२०

बुद्धि के जल्दी २ बढ़ाने वाले, धन के साधक, और हित के साधक शास्त्रों को और वेदार्थ के खोलने वाले निगमों को प्रतिदिन देखे ॥१९॥ क्योंकि ज्यों २ पुरुष शास्त्र को विचारता है, त्यों २ उस के मर्म जानता है और इस का विज्ञान चमकता है ॥ २० ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ।१३३।
न ही दृश मनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।१३४।

वैरी, वैरी के साथी, अधर्मी, चोर और परस्त्री का सेवन न करे ॥१३३॥ क्योंकि इस लोक में आयु के नाश करने वाला और कोई ऐसा कर्म नहीं, जैसा कि इस लोक में पुरुष को परस्त्री का सेवन है ॥ १३४ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येतदुर्लभाम् ॥

पहली असफलताओं से अपना अपमान न करे, मृत्यु तक लक्ष्मी को ढूंढे, इसे दुर्लभ न समझे ।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूया देष धर्मः सनातनः ।१३८।
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह१३९
हीनांगानातिरिक्तांगान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् १४०

सत्य बोले और प्रिय बोले अप्रिय सत्य न बोले और प्रिय असत्य न बोले यह सनातनधर्म है। १३८। शुभ को शुभ कहे वा शुभ ही कहे (अशुभ भी हो, तौ भी शुभ शब्दों में ही कहे जैसे मरे को स्वर्गवास) शुष्कवैर और झगड़ा किसी के साथ न करे। १३९। हीन अंग वाले, अधिक अंग वाले, विद्या से हीन, अवस्था में बड़े, रूप से हीन, धन से हीन वा जाति से हीनों को न अनादरे (अन्धे को अन्धा, धनहीन को कंगला इत्यादि न कहें)

मंगलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्चजुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः । १४५ ।
मंगलाचार युक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ।१४६।

मंगलमय आचरण से युक्त और शुद्ध अन्तःकरण वाला हो, इन्द्रियों को वश में रक्खे, आलस्य रहित होकर नित्य प्रति स्वाध्याय करे और अग्नि में होम करे। १४५। जो मंगलमय आचरण से युक्त हैं और सदा शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, स्वाध्याय करने वाले और होम करने वाले हैं, उन की कभी गिरावट नहीं होती है ।।२४६।।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ।१४७।
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मेवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुख मश्नुते।१४९।

आलस्य रहित होकर नित्यप्रात ठीक समय वेद का अभ्यास अवश्य करे, क्योंकि यह उस का (ब्राह्मण का) परम धर्म कहते हैं और उपधर्म कहलाता है। १४७। नित्य प्रति वेद के अभ्यास से, तप से और किसी के साथ द्रोह न करने से पूर्व जन्म का स्मरण करता है। १४८। पूर्व जन्म का स्मरण करता हुआ फिर वेद का ही अभ्यास करता है और वेद के लगातार अभ्यास से अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

धर्म शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीक मिवपुत्तिकाः।
परलोक सहायार्थं सर्वभूतान्य पीडयन्।२३८।
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः।२३९।
एकः प्रजायते जन्तुरेकएव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सकृतमेक एव च दुष्कृतम्।२४०

दूसरों को पीड़ा न देता हुआ परलोक की सहा[यता के] लिए धीरे २ धर्म का सञ्चय करे, जैसे दीमक (धीरे २ टीला (बनाती है) २३८। क्योंकि परलोक में सहायता के लिए न माता न पिता न पुत्र न स्त्री कोई भी खड़ा नहीं होता,

अकेला धर्म ही खड़ा होता है। २३९। जीव अकेला जन्मता है अकेला मरता है अकेला ही पुण्य को और अकेला ही पाप को भोगता है। २४०।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्। २४२।
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्। २४३।

मरे शरीर को लकड़ी और ढेले की नाईं भूमि पर फैंक कर बान्धव मुंह मोड़ कर चले जाते हैं, केवल धर्म उस के साथ जाता है। २४१। अतएव (परलोक के) साथी धर्म का धीरे २ नित्य संचय करे, क्योंकि धर्म रूप साथी के साथ दुस्तर अन्धकार से भी पार हो जाता है। २४२। जो पुरुष धर्मपरायण है, और तप से जिसके पाप मिट चुके हैं, उसको धर्म शरीर छोड़ने के अनन्तर दीप्तिमान् बना कर परलोक में ले जाता है।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठति।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी १३

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥१४॥

जहां सभा में धर्म अधर्म से वींधा हुआ आता है और सभासद इसके शल्य को नहीं निकालते हैं, वहां सभासद स्वयं बींधे हुए हैं । १२ । या तो सभा में प्रवेश न करे, या ठीक २ कहे, न कहता हुआ वा उलटा कहता हुआ दोनों तरह से मनुष्य पापी होता है ।१३। क्योंकि जहां सभासदों के सामने धर्म अधर्म से और सत्य झूठ से मारा जाता है, वहां सभासद स्वयं मरे हुए हैं ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्ययः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् । १६ ।
एकएव सुहृद्धर्मो निधने प्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्याद्धि गच्छति ॥ १७॥

धर्म ही मारा हुआ मार देता है और रक्षा किया हुआ रक्षा करता है, इस लिए धर्म को मारना नहीं चाहिये, न हो कि मारा हुआ धर्म हमें मार दे । १५ । भगवान् धर्म वृष (श्रेष्ठ बल) है, उस का जो लोप करता है उस को देवता वृषल कहते हैं, इस लिए धर्म का लोप न करे । १६ । धर्म ही एक मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है, और सब कुछ शरीर के साथ नाश को प्राप्त होता है ।